पदार्थमीमांसा

(प्रथमभाग)

लेखक एवं प्रकाशक
आयुर्वेदाचार्य पं० त्र्यम्बकनाथ शर्मा
शास्त्री, साहित्याचार्य, ए.एम.एस. (का.वि.वि.)
भू० पू० चिकित्सक श्री मूलचन्द औषधालय,
भू० पू० प्रिंसिपल कान्यकुब्ज आयुर्वेदिक विद्यालय,
लखनऊ

मुद्रक :—
बनारसी दास मेहरोत्रा
रामाप्रेस, नजीराबाद, लखनऊ

१ जनवरी १९५५] प्रथमावृत्ति [मूल्य ३)

" श्रीगणेशायनमः "

* समर्पणम् *

विद्वन्नागरिकशासकवृन्दसम्मानिताः, स्वायत्तीकृताखिलविद्या-
कमनीयकलाः, नीतिंन्यायशास्त्रपारङ्गताः, समस्तोत्तर
प्रदेशस्थखाद्यस्वास्थ्यचिकित्साधिकारिशिरो—
मणयः, लक्ष्मणपुराख्य राजधानीगौरवाः,
माननीयस्वास्थ्यमन्त्रिमहाभागाः
श्रीचन्द्रभानुगुप्तमहोदयाः
प्रसीदन्तुतरामनया-
सबहुमानसमर्पितया
पदार्थमीमांसया--

चन्द्रस्यशैत्यं ज्वलनञ्चभानो र्द्वयोःप्रतीतीभुवनेऽखिलेस्तः ।
उभौ समाहारकृतौ नु तस्मिं यश्चन्द्रभानु र्लखनाख्यपुर्याम् ॥
आह्लादिकत्वादिगुणैः सुयुक्तः शत्रोर्विनाशायक्षमः स आर्यः ।
शासञ्चकासच्च महामना च परोपकारस्य व्रती विरागी ॥
सकर्णधारो दिशिचोत्तरस्यां संचालकः कांग्रसमानवानाम् ।
सम्पूजितःशासकमण्डलीभिः सम्मानितोमान्यमहोदयैश्च ॥
सुशासनीतिर्विदितो धरायां प्रसिद्धकीर्तिर्भुविभारतस्य ।
कराम्बुजे तस्य गुणान्वितस्य विराजतां मञ्जुकृतिर्मदीया ॥

निवेदयति

त्र्यम्बकनाथशर्मा



परमश्रद्धेयाः माननीयमान्यवराः स्वास्थ्यमन्त्रिमहाभागाः

"श्री चन्द्रभानु गुप्ताः"

निवेदन

सृष्टि में जितने भी पदार्थ या तत्व पाये जाते हैं सबकी कल्पना पुरुष शरीर में की गई है। भगवान् आत्रेय ने 'पुरुषोऽयं लोकसम्मित इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः। यावन्तो हि मूर्तिमन्तो लोके भाव विशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तोलोके' स्पष्टनिर्देश किया है। यही कारण है कि चरककार आदि ऋषियों ने समस्त तत्वों का सुन्दर विवेचन किया है। वस्तुतः आयुर्वेद को आधार शिला दर्शन शास्त्र के पदार्थ या तत्व ही हैं जैसा कि चरककार ने स्पष्ट निर्देश किया है कि—"सामान्यञ्च विशेषञ्च गुणान्द्रव्याणि कर्म च। समवायञ्च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः।" च. सू. अ. १

यही मूलतत्व न्याय एवं वैशेषिक शास्त्र के आधार भारतीय साहित्य एवं आयुर्वेद के उद्गम के मूल स्रोत हैं। बिना पदार्थों के विस्तृत अध्ययन के आयुर्वेद के स्वरूप की सत्ता ही समाप्त हो जाती है, अतः प्राचीन समय से आयुर्वेद दर्शन अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता चला आ रहा है। किन्तु आज ....कतिपय स्थानों के अधिकारी, जिन्हे भारतीय साहित्य का पूर्ण ज्ञान नहीं है, बाल्यकाल से विदेशी शिक्षा में दीक्षित होने के कारण उससे कुछ अनुराग भी रखते हैं, वह आयुर्वेद में केवल निदान एवं चिकित्सा ग्रन्थों का अध्ययन ही पर्याप्त समझते हैं, जो कि केवल आयुर्वेद के लिये घातक नहीं है, अपितु भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का भी घातक है। यह दर्शनशास्त्र स्वकीय महत्ता के आधार पर अनेक शाखाओं में विभक्त होता है।

१—तत्वमीमांसा—इसमें सत् को प्रतीति से पृथक् किया जाता है। यह भी भौतिकवाद एवं मानसिकवाद द्वारा दो भागों में विभक्त है। जो लोग भौतिक तत्वों को वास्तविक मानते हैं वे भौतिकवादी कहलाते हैं जैसे चार्वाक ने "यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्दणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥" स्पष्ट कहा है। वस्तुतः चार्वाकदर्शन वास्तववादी है क्योंकि यह जिस इन्द्रिय द्वारा जिस पदार्थ को जिस रूप में ग्रहण करता है, उसी प्रकार वास्तविक रूप में स्वी-

कार करता है। कुछ दार्शनिक मानस व्यापार की वास्तविक रूप में स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर भौतिक पदार्थों को प्रतीत स्वरूप मानते हैं ये प्रत्ययवादी कहलाते हैं इनमें बौद्ध दर्शन प्रधान है। कुछ दार्शनिक भौतिक एवं मानसिक दोनों को यथार्थ रूप से स्वीकार करते हैं ये द्वैतवादी कहलाते हैं इनमें न्याय एवं वैशेषिक दर्शन प्रधान है।

२—प्रमाणमीमांसा—इसमें ज्ञान की विशद विवेचना की जाती है जिसमें ज्ञान का स्वरूप, सीमा, प्रमाणिकता आदि पर विशेषत ध्यान दिया जाता है। इस प्रामाणमीमांसा का उत्तम प्रतिपादन मीमांसा शास्त्र में है।

३—तर्कशास्त्र-इसमें व्याप्ति के आधारपर शास्त्र की विशदविवेचना की जाती है इसका दूसरा नाम कल्पनात्मकदर्शन या न्यायदर्शन है।

४—कर्तव्यशास्त्र—इस शास्त्र में कर्तव्य प्रधान रूप से वर्णित हैं इसके नैराश्यवाद एवं आशावाद दो सिद्धान्त प्रधान हैं जिनका कि सांख्य एवं योग में उत्तम निरूपण है।

५—सौन्दर्यमीमांसा—इस शास्त्र में सौन्दर्य, तज्जनितसुखदुःखोत्पत्ति सौन्दर्य का कला में परिवर्तन, चित्र एवं चित्रणीय वस्तु का सम्बन्ध, संगीतादि का विवेचन, विस्तृततया होता है। वस्तुत: यह सौन्दर्य मीमांसा साहित्य, संगीत एवं कला तीन प्रधान शास्त्रों में विभक्त हो जाती है। मानव सौन्दर्योपासना द्वारा ही मानव माना जाता है, अन्यथा वह पशु है। कहा भी है 'साहित्य संगीत कला विहीन: ,,साक्षात्पशु: पुच्छविषाणहीन: ।

६—मनोविज्ञान—इसमें मस्तिष्कसम्बन्धी विषयों का या मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इसके भी शिक्षा मनो-विज्ञान, बालमनोविज्ञान एवं पशुमनोविज्ञान इत्यादि अनेकभेद हैं।

७ आयुर्वेद—इसमें हिताहित एवं सुख दु:खादि की दृष्टि से उपर्युक्त एवं अन्य विषयों का आयु के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, तब समस्त विषय आयुर्वेद के अन्तर्गत आते हैं। चरककार ने स्पष्ट कहा है कि ''हिताहितं सुखं दु:खमायु: तस्यहिताहितम्। मानञ्च तच्च यच्चोक्तमायुर्वेद: स उच्यते ॥ ''अत: इसी आधार

पर चरककार की 'यदिहास्ति तदन्यत्रयन्नेहास्ति नतत्क्वचिद्' घोषणा वास्तविकता प्रदर्शित करती है। अथर्ववेद में भी अज्ञात औषधियों के रसगुण वीर्यादि जानकर अपनाने के लिये स्पष्ट निर्देश किया है। वस्तुत: वेद के मन्त्र भाग में 'विस्त्रेव' शब्द औपलाक्षणिक है जिससे कि समस्त ज्ञात विषयों को अभिव्यक्ति होती है।

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा
अज्ञाता जानीमश्च या यासुविद्म च संभृतम् ॥ अथर्ववेद:

आयुर्वेद के इस महत्वशाली दर्शन को समस्त आयुर्वेद की परीक्षाओं में प्रधानता दी जाती रही है। आज भी आयुर्वेद समाज में आयुर्वेद के दर्शन वेत्ता का ही सम्मान है। भारतीय चिकित्सा-परिषद् के पाठ्य क्रम मे भी, जहां हाईस्कूल उत्तीर्ण छात्र भी प्रविष्ट होते हैं, एक स्वतन्त्र विषय का रूप दिया गया है। किन्तु हाईस्कूल उत्तीर्ण छात्रों के लिये यह विषय नवीनता के कारण कठिन हो जाता है। दूसरे यह भी कठिनाई है कि हिन्दी में श्रीमान् पं० रामरक्षपाठक के पदार्थ विज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरी उत्तम पुस्तक अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है जो कि विद्यार्थियों के लिये उपयोगी हो। मैंने इस पुस्तक को इसी आधार पर निर्मित किया है कि जिससे B.I.M.S. के छात्रों की कठिनाइयां दूर हो जायें। यद्यपि यह सत्य है कि पुस्तक अतिसंक्षिप्त सूत्र रूप से सगठित होने के कारण अध्यापन की दृष्टि से कठिन है, तथापि विद्यार्थियों के लिये अध्ययन की दृष्टि से उत्तम है। इस पुस्तक में सांख्यकारिका तर्क संग्रह, मुक्तावली का मगलवाद एवं ईश्वरवाद का समूल हिन्दी में भावात्मक कथानक के रूप में चित्रण किया है जिससे कि विद्यार्थी सरलता से हृदयङ्गम कर सके।

मैंने इस ग्रन्थ की रचना के समय उत्तर प्रदेश के इन्टरमीजिएट के तर्क शास्त्र के छात्रों का भी विचार रक्खा है, जिनके लिये भारतीय तर्कशास्त्र का उल्लेख मात्र हो जाता है किन्तु उचित पुस्तक न होने से विषय का समावेश नहीं हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। आशा है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र जो कि वस्तुत: भारतीय दृष्टि से

किसी प्रकार उपयोगी नहीं है उसके स्थान पर शीघ्र ही भारतीय दर्शन स्थान प्राप्त करेंगे एवं आधुनिक तर्कशास्त्र के पाठ्यक्रम में भी भारतीय दर्शन के विषयों का उल्लेख होगा जिससे कि भारतीय संस्कृति भारतीय साहित्य एवं भारतीय दर्शन का उत्तम प्रचार होवेगा।

आजकल ग्रन्थ लेखक के लिये यह आवश्यक है कि वह एक ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत करे जिससे कि उसकी विद्वत्ता की अभिव्यक्ति हो, जिसे कि मैं पूर्णतया निरर्थक समझता हूँ। दूसरा कार्य सहायक एवं आधारभूत ग्रन्थों के जीवित लेखकों को धन्यवाद वितरण करना होता है, जो कि आवश्यक एवं भारतीय सभ्यतानुकूल है, वस्तुतः विषय के प्रथम लेखक को ही ग्रन्थ निर्माण का श्रेय होता है बाद के लेखक केवल अनुकरणमात्र करते हैं। यद्यपि हिन्दी साहित्य में उच्चकोटि के दर्शन की पुस्तकों का अभाव है तथापि 'भारतीय दर्शन' ले० श्रीबलदेव उपाध्याय एवं पदार्थ विज्ञान, ले० रामरत्नपाठक दो उत्तम ग्रन्थ मुझे देखने को मिले हैं जिनका कि भाव भी मैंने ग्रहण किया है अतः उपर्युक्त लेखकों को धन्यवाद वितरण करना कर्तव्य समझता हूँ। मैं परम श्रद्धेय पूज्यबन्धु पं० गणेशदत्त सारस्वत, आदरणीय आचार्य प्रवर, पं० विश्वनाथ द्विवेदी एवं पं० शिवदत्त शुक्ल एवं बन्धुवर पं० गिरिजादयालु शुक्ल का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्षतया इस कार्य में प्रेरित किया।

ग्रन्थ में प्रेस कार्य की अनभिज्ञता के कारण एवं प्रेस के अधिकारियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होते हुये भी समुचित निरीक्षणता की कठिनाइयों के कारण मुद्रण सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ हो गयी हैं। जिनके लिये मैं पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ और विश्वास करता हूँ कि आगामी संस्करण में इन समस्त त्रुटियों का निराकरण कर दूंगा। इस समय इस प्रतिलिपि को ही आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है आप इसको ग्रहण कर उचित सम्मति प्रदान करते हुए कृतार्थ करेंगे।

सोंधी टोला, लखनऊ
१.१.५५

त्र्यम्बकनाथ शर्मा,

इतिशम्

" श्रीगणेशाय नमः "

सांख्यकारिका

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

"स्वतन्त्रमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे"

भारतीय दर्शन, जो समस्त भूतल पर अपना आधिपत्य स्थापित किये हुआ है, आस्तिक तथा नास्तिक भेदों द्वारा दो भागों में विभक्त होता है। वेद को प्रमाण माननेवाले आस्तिक दर्शन तथा वेद को प्रमाण रूप से न माननेवाले नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा षट् आस्तिक दर्शन तीन द्वन्द्वों में सीमित होते हैं। नास्तिक दर्शन में चार्वाक, बौद्ध, जैन पाशुपत, माहेश्वर आदि अनेकानेक महत्व पूर्ण दर्शन हैं। दर्शनशास्त्र सर्गादि उत्पत्ति से सर्गान्त तक की समस्त वस्तु स्थिति पर प्रकाश डालते हैं तथा मानवीय दुःखों के अन्त करने का मार्ग प्रदर्शनकर परम सुखदायक मोक्ष प्राप्ति के साधनों को भी अभिव्यक्त करते हैं। सांख्यदार्शनिक आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं अधिदैविक दुःखत्रय के नाश का एक मात्र उपाय सांख्यशास्त्र को ही मानते हैं। वे वात पित्तादि जनित एवं काम क्रोधादि जनित आध्यात्मिक, व्याघ्र चौरादिजनित आधिभौतिक तथा दाह शीत यक्ष राक्षस विनायक ग्रहाद्यावेश निबन्धी आधिदैविक दुःखों के वर्तमान प्रसिद्ध उपायों को अन्यथा सिद्ध मानते हैं। उनका कथन है कि आध्यात्मिक दुःख के रसायनादि औषधि एवं मनोज्ञ स्त्री पान भोजन, आधिभौतिक के नीतिशास्त्राभ्यास निर्बाध स्थानादि सेवन, एवं आधिदैविक के मन्त्रादि निश्चित तथा स्थायी उपाय नहीं है।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥
मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥
दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

इन्हीं अनिश्चित एवं अस्थायी उपायों के समान वेदविहित कर्मकाण्डान्तर्गत ज्योतिष्टोमादि यज्ञ आते हैं, जिनके द्वारा पुण्य की वृद्धि होकर स्वर्गादि इष्ट की सिद्धि होती है, किन्तु यज्ञ द्वारा संचित पुण्य के क्रमशः क्षय होने से पुनः दुःख की प्राप्ति होजाती है, अतः दुःखत्रय का सफल, निश्चित एवं स्थायी उपाय व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ का विशेष ज्ञान, प्राप्ति हीं है । व्यक्त पद से सोलह विकार, अव्यक्त पद से अष्टप्रकृति एवं ज्ञ पद से उदासीन पुरुष का ग्रहण होता है । सांख्याचार्यों ने सृष्टि में केवल २५ तत्व तथा किसी ने (पुरातन) २४ तत्व तथा आधुनिक सांख्यों ने २६ तत्व माने हैं, जिससे कि समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई । उत्पादक को प्रकृति एवं उत्पाद्य को विकार माना जाता है । समस्त सृष्टि के प्रधान उत्पादक को मूल प्रकृति कहते हैं । मूल प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रियां तथा पञ्च तन्मात्रायें, पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है । महान्, अहंकार एवं पञ्च तन्मात्रायें उत्पाद्य होते हुए भी उत्पादक है अतः इन सात को प्रकृति विकृति दोनों रूप में मानते हैं ; एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभूत किसी के उत्पादक नहीं हैं, केवल उत्पाद्य है, अतः इन्हें विकार ही कहते हैं । उदासीन पुरुष या ज्ञ न तो उत्पादक है, न उत्पाद्य, अतः इसे प्रकृति विकृतिरहित कहते हैं । अतः सांख्य २४, २५ या २६ तत्वों को प्रकृति, प्रकृतिविकृति, विकृति एवं अप्रकृतिविकृति भेद में सीमित, करता है । इन पदार्थों को वस्तु स्थिति सिद्ध करने के लिये वह प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द प्रमाण को साधन मानता है ।

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥
सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥६॥
अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥
सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥८॥
असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

प्रत्येक विषय के तदिन्द्रय जनित बुद्धि व्यापार को प्रत्यक्ष कहते हैं, लिङ्ग को देखकर लिङ्गी की सिद्धि या लिंगी को देखकर लिंग की सिद्धि अनुमान, जो कि पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतो दृष्ट भेद से तीन प्रकार की होती है। वेदादि मूलक एवं आप्तजनोक्त वाक्य शब्द प्रमाण कहलाता है। सामान्यतया इन्द्रिय ग्रहण योग्य उपस्थित वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा, अतीन्द्रिय एवं अनुपस्थित वस्तु की सिद्धि अनुमान द्वारा, तथा शेष विषय की सिद्धि शब्द प्रमाण द्वारा की जाती हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण में अतिदूर, अतिसामीप्य, इन्द्रियघात, अस्थिरमन, अतिसूक्ष्मता, व्यवधान अभिभव एवं समानाभिहार बाधक माने जाते हैं। प्रकृति या अव्यक्त केवल कल्पित या अभावस्वरूप नहीं कहा जा सकता, वह अतिसूक्ष्म है, अतिसूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रकृति के महदादि कार्यों का, एवं तज्जनित क्रियाओं का साक्षात्कार होता है जो कि कुछ प्रकृति के समान धर्मवाले एवं कुछ प्रकृति के विरुद्ध धर्मवाले होते हैं, जिनकी कि सिद्धि अनुमान द्वारा या सत्कार्यवाद द्वारा की जाती

विना सत् या कारण के सत्तात्मक कार्योत्पत्ति भी नहीं होसकती, अन्यथा असद्वाद मानने पर किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी वस्तु से की जासकती है।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥९॥
हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयव परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अतः असद्वस्तु कारण शून्य होती है तथा सद् वस्तु की उत्पत्ति में उपादान ग्रहण किया जाता है। उपादान भी प्रति उपादेय का भिन्न भिन्न होता है। कर्ता भी शक्ति समन्वित होता है, और जब अन्य समस्त कारणों की भी उपस्थिति होती है, तब सद् रूपी कार्य उत्पन्न होता है, जिसे सत्कार्यवाद कहते हैं यहाँ पर कारण में शक्ति की विशेषता स्वीकार करने पर सर्वसम्भव दोष नहीं आता। यहाँ शङ्का यह है कि कारण में सत् मानने की जा कि कारण व्यापार के पहिले कल्पना की जाती है, आवश्यकता ही न रह जायगी। किन्तु इसका उत्तर यह है कि कारण में शक्ति विशेष कल्पना करने से जिस कारण से कार्य होगा उसी में सीमित रहेगी। यदि सर्वत्र स्वीकार की जाय तो समस्त कार्योत्पत्ति होने लगेगी, अतः जब कार्यों में कारण की शक्ति का सम्बन्ध मानना आवश्यक है तो सत्कार्य वाद मानना ही पड़ेगा, एवम् कार्यकारण अभेद होने से कारण सर्वदा सद्रूप होने से कार्य भी सत् रूप ही हो सकता है, असद् नहीं, अतः महान् अहंकारादि से अव्यक्त प्रकृति की सिद्धि सत्कार्य वाद द्वारा की जाती है। क्योंकि महान् तथा अहंकार हेतुमन्, अनित्य व्याप्त, सक्रिय, अनेक, आश्रित, चिन्हस्वरूप, त्रिगुणात्मक, पराधीन स्वरूप होते हैं। अतः उन्हें व्यक्त भी कहते हैं। मूल प्रकृति इन धर्मों से भिन्न तथा अव्यक्त स्वरूप मानी गई है। किन्तु प्रश्न यहाँ पर यह है, प्रकृति को हेतुमान् क्यों नहीं माना जाता है अतः इसका उत्तर यह है कि प्रकृति को हेतुमान् अनित्य आदि मानने पर अनवस्था दोष की प्राप्ति के अतिरिक्त कोई अन्य फल नहीं है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका: प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था: ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥
सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रज: ।
गुरु वरणकमेव तम: प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति: ॥१३॥
अविवेक्यादि: सिद्धस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥
भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तित: प्रवृत्तेश्च ।

व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य त्रैगुण्य अविवेकिता, अचेतन प्रसवधर्मि, माना गया है, किन्तु पुरुष निर्गुण, विवेकी, अविषय, असाधारण, चेतन तथा अप्रसवधर्मि है । त्रैगुण्य शब्द से सत्व, रज एवं तम का ग्रहण होता है । सत्व सुखात्मक, रज दु:खात्मक एवं तम मोहात्मक होता है प्रकाश प्रवृत्ति एवं नियमन क्रमश: इनके कार्य हैं । वस्तुत: प्रत्येक कार्य में तीनों गुण एक साथ प्रवृत्त होते हैं, किन्तु एक दोष प्राधान्य से वह सत्व रज एवं तम प्राधान्य कहलाते हैं वस्तुत: यह परस्पर अन्योऽन्याभिभव, अन्योऽऽन्याश्रय, अन्योन्यजनक अन्योन्यमिथुन, अन्योन्यवृत्ति माने गये हैं । इसी को पुन स्पष्ट करने के लिये प्रदीपवत् कार्य क्षमता स्वीकार की है । लघुता चञ्चलता और गुरुता भी सत्व रज-तम मे मानी गई है । त्रैगुण्ययुक्त वस्तु अविवेकी होती है; जहाँ पर त्रैगुण्य नहीं होता वह विवेकी होता है । क्योंकि कारणानुकूल हीं कार्य सिद्ध हो चुका है । प्रश्न यह उपस्थित है कि महदादि द्वारा अनुमान कर लेने पर भी मूल प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता, अत: महान् आदि को ही कारण मानने में क्या आपत्ति है । सत्तात्मक वस्तु यद्यपि उसकी अनुपलब्धि भी हो जैसे पाषाण में गन्ध, तथापि उसे स्वीकार करना ही यथार्थ होता है । यदि यह कहा जाय कि महान् अहंकार आदि को ही प्रधान कारण मानना उचित है, निरर्थक महान् के कारण की कल्पना करनी ही अनुचित है, संगत नहीं होता ! महान् आदिक कार्य है क्योंकि यह व्यापक नहीं है । दूसरे सुख दु:ख मोहादि से समानरूपत: संलग्न है ।

कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥
कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥
सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥
जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।

तीसरे सामर्थ्यवान् पुरुष ही अपनी शक्ति के अनुकूल कार्य कर सकता है। चौथे कार्यकारण में भेद मानना भी आवश्यक होता है। पाँचवें लयावस्था में सर्ग केवल एक रूप में ही लीन होता है, अतः महान् आदि से प्रकृति को भिन्न व्यापक मानना आवश्यक है। यह प्रकृति सत्वरज एवं तम गुणों के आधार पर असंख्य कार्योत्पत्ति करती है। जैसे वर्षा का जल जिस २ आश्रय में जाता है, वहाँ वह उसी प्रकार के रूपों में परिवर्तित हो जाता है उदाहरणार्थ नारियल, नींबू, करेला आदिके रस।

सुख दुःख मोह जनक कार्य किसी अन्य के लिये होते हैं। दूसरे त्रिगुणात्मक द्रव्य का अभाव भी होता है जो कि केवल पुरुष में ही पाया जाता है। इस अचेतन शरीर में चेतनत्व प्रतिपादक कोई अन्य तत्व भी होता है जिसके द्वारा चेतनता की उत्पत्ति होती है। व्यक्त एवं अव्यक्त के ज्ञान का कर्ता व्यक्त एवं अव्यक्त से भिन्न होता है वह साक्षी की भांति समस्त ज्ञान रखनेवाला होता है। इसी का मोक्ष होता है इसी में मुमुक्षुप्रवृत्ति पाई जाती है अतः "संघातपरार्थत्वाद् - त्रिगुणादिविपर्ययाद् - अधिष्ठानाद् - भोक्तृभावात्- कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः" इत्यादि कारणों से पुरुष की सिद्धि निर्विवाद होती है। पुरुष अनेक हैं क्योंकि किसी का जन्म किसी का मरण भिन्न २ समय पर ही होता है। यदि एक पुरुष होता है तो समस्त पुरुषों का जन्म मरण साथ ही साथ होता, दूसरे सात्विक राजस एवं तामस भिन्न २ लक्षण पुरुष में गोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त पुरुषों में सुख दुःखादि भी

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥
तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥
तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥
पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥२२॥
अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।

भिन्न २ प्रकार से ही उत्पन्न होता है। समस्त पुरुष सुखी या दुःखी नहीं होते अतः पुरुष असंख्य है, ऐसा ही सिद्ध होता है। त्रिगुणादि रहित पुरुष ही विवेकी, विवेकी ही साक्षी एवं त्रिगुणात्मकदुःखातीत, उपकारापकारक्रियाशक्तिरहित, इच्छाद्वेषप्रयत्नादिशून्य माना गया है।

प्रकृति पुरुष के संयोग होने पर चैतन्य स्वरूप भासित होती है, यद्यपि वह अचेतन ही है। उदासीन पुरुष भी प्रकृति के संयोग से सगुण तथा सक्रिय प्रतीत होता है, यद्यपि यह निर्गुण एवं निष्क्रिय है। प्रकृतिपुरुषसंयोग दर्शन एवं मोक्षण के लिये होता है। प्रकृति अज्ञ है इसे ज्ञ पुरुष की आवश्यकता अपनी क्रियाओं के सम्पादनार्थ होती है। उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष को मोक्षार्थ क्रियाओं के उत्पादनार्थ प्रकृति का संयोग करना पड़ता है क्योंकि यह स्वयं निष्क्रिय है। उदाहरण स्वरूप प्रकृति अज्ञ होने से अन्धी एवं पुरुष निष्क्रिय होने से लगड़ा है। पंगु एवं अन्ध का संयोग होजाने पर गमनागमन में सुगमता उत्पन्न हो जाती है।

प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ एवं पञ्च तन्मात्राओं, पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है। बुद्धि का लक्षण 'अध्यवसन' है अर्थात् 'मुझे यह करना चाहिये' ऐसा निश्चय कर कार्यरत होना अध्यवसन कहलाता है।

सात्विकमेतद्रूपं तामसमेतद्विपर्यस्तम् ॥२३॥
अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रापञ्चकश्चैव ॥२४॥
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥२५॥
बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यकर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥
उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥२७॥
रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥
स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।

अध्यवसन ही बुद्धितत्व का विशेष धर्म होने से इतर व्यावर्तक लक्षण माना जाता है । बुद्धि में आठ गुण पाये जाते हैं जिन्हें धर्म-ज्ञान-विराग-ऐश्वर्य चार सात्विक, एवं अधर्म अज्ञान अवैराग्य-अनैश्वर्य चार तामस गुण कहलाते हैं ।"मैं ही समर्थ हूं" "मैं ही यह कर सकता हूं" इस प्रकार का अभिमान ही अहंकार कहलाता है। यह अहंकार सात्विक, राजस एवं तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। राजससहाययुक्त सात्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ तथा राजससहाययुक्त तामसअहंकार से पञ्च तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-रसन एवं स्पर्शनेन्द्रिय पञ्च ज्ञानेन्द्रिय हैं, वाक्-पाणि-पाद-गुदा एवं, शिश्न पञ्च कर्मेन्द्रिय हैं। मन ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय उभयात्मक है, इस प्रकार ११ इन्द्रियाँ होती हैं । मन का लक्षण 'संकल्प विकल्प' माना गया है जोकि मन का कार्य भी है । ज्ञानेन्द्रियों का कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ग्रहण करना है तथा कर्मेन्द्रियों का कार्य वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग एवं आनन्द करना है । बुद्धि अहंकार एव मन के क्रमशः अध्यवसाय-अभिमान एव संकल्प जो लक्षण किये जा चुके हैं, वे ही उनके असामान्य व्यापार भी माने गये हैं ।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥२६॥
युगपच्चतुष्टयस्य हि वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥
स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥३१॥
करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२॥
अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥
बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।

प्राण, अपान. समान, उदान एवं व्यान जो शरीरस्थ पञ्च वायु हैं वह इन तीन अन्तःकरणों की साधारण व्यापार रूप में ग्रहण होती हैं। यह व्यापार बाह्येन्द्रियों से उत्पन्न होकर मन अहंकार एवं बुद्धि में क्रमशः उत्पन्न होता है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में कभी २ चारो करणों की क्रिया एक साथ भी उत्पन्न होती है जैसे अन्धकार में विद्युत्प्रकाश होने पर समीपस्थ सिंह को देख कर भाग खड़े होना। नेत्रों के आगे मच्छड़ आदि आने पर नेत्र का एकाएक स्वतः बन्द होजाना आदि।

यह करण अपने विषय का प्रतिपादन परस्परापेक्ष ही करते हैं। पुरुषार्थ ही करणों की कार्य संलग्नता में कारण है, कोई दूसरा अन्य कारण नहीं है। करण अन्तः एवं बाह्य भेद से द्विविध माने गये हैं। महान् अहंकार एवं मन तीन अन्तःकरण हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियां बाह्य करण मानी गई हैं जो कि संख्या में दस हैं। इन त्रयोदश करणों में आहरण कार्य कर्मेन्द्रियों का, धारण कार्य महान् अहंकार एवं मन का, तथा प्रकाश कार्य बुद्धीन्द्रियों का व्यापार माना गया है। बाह्यकरण केवल वर्तमानकालिक ज्ञान ही प्राप्त करते हैं, किन्तु आभ्यन्तर करण (भूत भविष्य एवं वर्तमान) त्रैकालिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। बाह्यकरणों में पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विशेष, एवं

वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥
सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥३५॥
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥
सर्वं प्रत्युपभोगं तस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥
तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्य भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥
सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥

अविशेष दो प्रकार के विषय माने गये हैं, विशेष पद से पञ्च भूतों का ग्रहण होता है जिसका कि साधारण पुरुष अनुभव करता है तथा अविशेष पद से पञ्चतन्मात्राओं का ग्रहण होता है जिनका कि योगीजन ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं। मन अहंकारयुक्तबुद्धि समस्त विषयों का ज्ञान करने में समर्थ है अतः त्रिविध अन्तःकरण का प्रधान करण तथा १० बाह्यकरणों को सामान्य करण मानते हैं। इन त्रिविध अन्तःकरणों में भी बुद्धि ही उत्तम है, जो कि वस्तुतः पुरुष के समस्त अर्थ को प्रकाशित करती है, बुद्धि ही भोगों का साधन है, विवेक ज्ञान का कारण है, एवं मोक्ष का आधार है। पञ्चतन्मात्राओं में भोग क्षमता शान्तत्वादि गुण नहीं रहते, अतः इन्हें अविशेषसंज्ञा दी है। किन्तु इन पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न पञ्चमहाभूत विशेष एव सत्व प्राधान्य होने से शान्त, सुखात्मक एवं लघु, रजोगुण प्राधान्य होने से घोर एवं दुःखकर, एवं तमोगुण प्राधान्य होने से मोहात्मक एवं गुरु गुण वाले होते हैं। यह विशेषपञ्चमहाभूत सूक्ष्म मातापितृज एवं प्रभूत भेद से तीन प्रकार के होते हैं। सूक्ष्मविशेष पञ्चमहाभूत नित्य है, लिंग शरीर में मुक्तिकाल तक रहते हैं। माता पितृज तथा प्रभूत अनित्य है।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैस्तिष्ठति न निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥
पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥
सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥
धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।

सूक्ष्म शरीर महान् अहंकार मन एवं दस इन्द्रियों के साथ २ सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों से निर्मित होता है, इस प्रकार अष्टादश तत्वों से निर्मित सूक्ष्म पुरुष माना जाता है, जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न होता है, जिसकी गति अव्याहत है, जो प्रत्येक आत्मा के साथ अलग २ सम्बन्ध करता है, बिना स्थूल शरीर के भोग करने में असमर्थ, धर्मादि अष्ट भावों से संबन्धित है। त्रयोदश करण बिना विशेष पञ्चमहाभूतों के नहीं रह सकते जैसे बिना आश्रय के चित्र, बिना स्तम्भादि के छाया नहीं रह सकती अतः पञ्च सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों की सत्ता मानना आवश्यक है। यह सूक्ष्म शरीर धर्मादि निमित्त और धर्मादि निमित्तजन्य स्थूल देह के संयोग से नट के समान अनेकानेक रूप धारण करता है अनेकरूपधारणता में ही पुरुष का परम लक्ष्य निहित है। यह अनेक रूपता प्रभुता से प्राप्त हो जाती है। धर्मादि भाव प्राकृतिक एवं वैकृतिक दो प्रकार के होते हैं, जो कि सांसिद्धिक है। प्राकृतिक भाव सनकादि में जिन्हें जन्म से ही सद्ज्ञान की उपस्थिति थी, माने जाते हैं। वैकृतिक भाव सर्वसाधारण जीवों में माने जाते हैं जिनके आधार पर जीवों का जन्म एवं मरण स्थिर है। धर्म से उर्ध्वगति देवादि योनि की प्राप्ति, अधर्म से अधोगमन पशु पक्षि योनि की प्राप्ति, ज्ञान से मुक्ति, अज्ञान से बंधन, वैराग्य से

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥
वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥४५॥
एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥
पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिस्तु करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥
भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥
एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदशधा च बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥
आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

प्रकृति का लय, अवैराग्य से रागद्वेषादि जनित प्रकृति संसरण, ऐश्वर्य से कामनासिद्धि तथा अनैश्वर्य से कामनाओं का हनन होता है ।

यह धर्मादिजनितसर्ग बुद्धितत्व की सृष्टि बौद्धिकसर्ग या प्रत्ययसर्ग कहलाता है । इस प्रत्ययसर्ग को विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि एवं-सिद्धि चार भागो में सीमित करते है । विपर्यय के तम-मोह-महामोह तामिस्र एवं अन्धतामिस्र पाच भेद है । इस विपर्यय के पञ्च भेदों के पुनः भेद होते हैं जैसे तम के आठ, मोह के आठ , महामोह के दस, तामिस्र के अट्टारह एवं अन्ध तामिस्र के भी अठारह भेद हो जाते है इस प्रकार ६२ भेद होते हैं । अशक्ति के ११ बुद्धिवध के साथ २ एकादश इन्द्रियों का कार्याभाव, एवं नौ तुष्टि तथा आठसिद्धियों के विपर्यय जो संख्या में सत्रह होते हैं अतः २८ भेद माने जाते है तुष्टि प्रकृति उपादान काल एवं भाग्य नाम की चार आध्यात्मिकी होती है, तथा पाचों विषयों से वैराग्य होने से पाच प्रकार की बाह्य तुष्टि होती है, जो मिलाकर नौ प्रकार की हो जाती है ।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥
न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥५२॥
अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥
तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।

सिद्धियाँ--ऊह शब्द, अध्ययन, आध्यात्मिकदुःखविघात, आधिदैविकदु-:खविघात आधिभौतिकदुःखविघात, सुहृतप्राप्ति, एवं दान आठ सिद्धि मानी गई है (तारतारसुतारप्रमोदमुदितमोदमानरम्यकसदामुदिताख्याः सिद्धयः) । इस सिद्धि की सिद्धि में विपर्यय, अशक्ति एवं तुष्टि तीन बाधक या अंकुशस्वरूप माने गये हैं । इस धर्माधर्मादि के बिना भौतिक सर्ग की प्राप्ति नहीं, और बिना भौतिक सर्ग के धर्माधर्मादि अष्टभावों की उत्पत्ति नहीं होती अतः लिङ्गाख्य और भावाख्य दो प्रकार की सृष्टि मानी जाती है । यह भौतिकसर्ग ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, मैत्र, गन्धर्व, याक्ष, राक्षस, एवं पैशाच अष्टदेवयोनि, पशु, पक्षि, सरीसृप, कीट, एवं स्थावर पाँच प्रकार की तिर्यग्योनि एवं मनुष्य योनि, संक्षेपतया भौतिक सर्ग माना जाता है । अष्ट दैवयोनियों में सत्वगुण प्रधान रूप से रहता है और इनका स्थान भूलोक से ऊर्ध्वभाग में है । पञ्च तिर्यग्योनियों में तमोगुण की प्रधानता मिलती है अतः इनका स्थान भूलोक से नीचे है । मध्यस्थान भूलोक में मनुष्य निवास करते है जिनमें रजोगुण की प्राधान्यता पाई जाती है । यह समस्त सृष्टियां दुःखदायक है, जब यह ज्ञान वस्तुतः उत्पन्न हो जाता है उस समय वैराग्योत्पत्ति होती है क्योंकि जरामरणादिजन्य दुःख चेतन पुरुष को ही प्राप्त होता है अथवा जब तक प्रकृति से मुक्ति नहीं होती तब तक दुःख स्वाभाविकतया पुरुष को प्राप्त रहता ही है 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-

लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥५५॥
इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥
वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥
औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥
रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥
नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥
प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

विरोधाच्चसर्वमेवदुःखं विवेकिनः' ।

वस्तुतः प्रकृतिजन्य महदादि से पञ्च महाभूतों तक का समस्त कार्य-कलाप जब पुरुष को मुक्त करने के लिये अपने कार्य की भांति ही पुरुष के निमित्त कार्य करने लगता है, तब पुरुष मोक्षावस्था में पहुँचता हैं। यद्यपि महदादि जड़ है तथापि उनमें स्तन्य की भांति क्रिया उत्पन्न होती है। स्तन्य भी जड़ है, किन्तु उसमें वत्सोत्पत्ति के पश्चाद् इस रक्षा के निमित्त क्रिया होती है जिससे कि वत्स का जीवन वर्द्धनादि क्रियाए होती हैं। यह प्रकृति अपनी उत्सुकता को दूर करने के लिये, पुरुष को मुक्ति करने के लिये सक्रिय होती है जैसे कि पुरुष समूह अपनी कौतूहलता दूर करने के लिये अनेक कार्यों को करता है। यह प्रकृति पुरुष की आत्मा को प्रकाशित कर, जैसे वेश्या रङ्गमंच पर अपनी समस्त नृत्य क्रियाओं को दिखा देने के पश्चाद् विरत होती है, तद्वत् सम्बन्ध भंग करती है। प्रकृति अनेक उपायों से पुरुष का उपकार ही करती है। वह गुणवती है अतः निर्गुण पुरुष से किसी प्रकार के प्रत्युपकार की आकांक्षा नहीं करती। प्रकृति अत्यधिक सुकुमार है जो

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥
रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥
एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥
तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥६५॥
दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥६६॥

कि एक बार पुरुष के साक्षात्कार कर लेने पर पुनः सम्मुख नहीं आती।

आत्मा स्वाभाविक सुख दुःखादि रहित है अतः आत्मा का बंधन संसरण एवं मोक्षण नहीं होता । यह अष्टरूपा प्रकृति में या वस्तुतः प्रकृति के प्रथमपरिणाम बुद्धि में ही बन्धनादिक होते है जिनका कि भास आत्मा में प्रतीत होता है अतः भ्रमवश आत्मा में बन्धन, मोक्षण आदि का व्यवहार होता है। पुरुषयुक्त प्रकृति अपनी आत्मा को अपने धर्म-वैराग्य ऐश्वर्य अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य सप्तरूपों से बन्धन करती है और केवल ज्ञान से अपनी आत्मा का मोक्षण करती है। पञ्चविंशति तत्वों के पुनः २ चिन्तन से 'मैं कर्ता नहीं हूँ' 'मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है' 'मैं, यह अहंकारयुक्त ज्ञान-वास्तविक नहीं है' 'मैं किसी क्रिया आदि का आधार नहीं हूँ' इस प्रकार का जब पूर्ण ज्ञान संशयादि रहित रूप में उत्पन्न होता हैं तब यह कैवल्य ज्ञान कहलाता है। इस कैवल्त ज्ञान से दृष्टा पुरुष अर्थवश सप्तरूपोरहित, प्रपञ्चादि-शून्य प्रकृति को दृष्टिगोचर कर लेता है अतः प्रकृति के प्रत्यक्ष भूतकर लेने पर पुरुष प्रकृति से और प्रकृति पुरुष से स्वतन्त्र होती है। यद्यपि प्रकृति पुरुष संयोग नित्य है तथापि प्रकृति दर्शन के पश्चाद् पुनः सर्ग का प्रयोजन नहीं रहता ।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ॥६७॥
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥
पुरुषार्थं ज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥
एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥
शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥
सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्ठितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

इस कैवल्प ज्ञान के पश्चाद् यद्यपि जीव कुछ धर्मादिनिर्मित्त कार्य करता है, जो कार्य केवल पूर्व संस्कार के वश ही होता है, जिनका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। वस्तुत: सद्ज्ञान द्वारा धर्माधर्मादि भावों का क्षय हो जाता है केवल चलाये हुये चक्र के समान शरीर भी कुछ क्रियायें अवश्य करता है जिनका कि कोई प्रयोजन नहीं है। कैवल्य ज्ञानी पुरुष को शरीर निर्माण के पश्चाद् एवं प्रकृति प्रपञ्च से रहित होने पर ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दो प्रकार की मुक्ति प्राप्ति होती हैं।

❀ इतिशम् ❀

श्रीदुर्गायै नमः

तर्कसंग्रहः

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः ।

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तैव पदार्थाः । द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव । रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः । उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चकर्माणि । परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम् । नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव । समवायस्त्वेक एव । अभावश्चतुर्विधः प्रागभावःप्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति । तत्र गन्धवती पृथिवी । सा द्विविधा नित्याऽनित्या च । नित्यापरमाणुरूपा । अनित्या कार्यरूपा । पुनस्त्रिविधा, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्, शरीरमस्मदादीनाम् ।

"विश्वेश्वरीं तामखिलांनमामि"

द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय एवं अभाव सात पदार्थ माने गए हैं । द्रव्य पदार्थ से पृथ्वी जल तेज वायु आकाश काल दिशा आत्मा एवं मन का ग्रहण होता है । गुणपदार्थ में शब्द स्पर्श रूप रस गंध संख्या परिमाण पृथकत्व संयोगविभाग परत्वअपरत्वगुरुत्व द्रवत्व स्नेह बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म एवं संस्कार २४ गुणों का समावेश है । कर्म के उत्क्षेपण अपक्षेपण आकुञ्चन प्रसारण एवं गमन पाँच भेद हैं । सामान्य पर एवं अपर भेद से दो प्रकार का है । नित्य द्रव्यों में वृत्तिवाला विशेष के अनन्त भेद हैं । नित्यतायुक्त अनेक पदार्थों में रहनेवाला समवाय सम्बन्ध एक है । अभाव प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव भेद से चार प्रकार का माना गया है । जिस पदार्थ में गन्ध समवाय सम्बन्ध से हो उसे पृथ्वी, शीतलस्पर्श हो जल, उष्णस्पर्श हो तेज, रूप का अभाव होते हुए अनुष्ण, शीतस्पर्श हो वायु, कहते हैं । यह चारो द्रव्य नित्य एवं अनित्य भेद

इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्त्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः। शीतस्पर्श-वत्यआपः। ता द्विविधाः नित्या अनित्याश्च। नित्या परमाणुरूपाः, अनित्याः कार्यरूपाः, पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके, इन्द्रिय रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति, विषयः सरित्समुद्रादि। उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधं नित्यमनित्यञ्च, नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात् शरीरमादित्यलोके। इन्द्रिय रूपग्राहक चक्षुः कृष्ण ताराग्रवर्त्ति। विषयश्चतुर्विधः, भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्या-दिकम्। अबिन्धन दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि। रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः नित्योऽनित्य-श्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः, पुनस्त्रिविधः शरीरेन्द्रि-यविषयभेदात् शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्त्ति, विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तः सञ्चारी वायुः प्राणः, स एको-

---

से दो प्रकार के है। नित्य परमाणुरूप में एवं अनित्य कार्य रूप में माने जाते है। इन चारो द्रव्यों के अनित्यरूप के शरीर इन्द्रिय एवं विषय तीन भेद पुनः होते है। पार्थिव शरीर मनुष्यों का है। पार्थिव इन्द्रिय मनुष्यों में घ्राणेन्द्रिय है, जो कि नासाग्र स्थित गन्ध का ग्रहण करती है, विषय मृत्तिका पाषाण आदि हैं। जलीय शरार वरुणलोक में पाया जाता है इन्द्रिय जिह्वा के अग्रभाग में स्थित रसग्राहक रसने न्द्रिय है और विषय नदीनदसमुद्रादि माने गए हैं। तैजसशरीर सूर्यलोक में पाया जाता है। इन्दिय नेत्र के कृष्णताराग्रवर्ति रूपग्राहक चक्षुरिन्द्रिय है। तैजसविषय भौम दिव्य औदर्य एवं आकरज भेद से पुनः चार भागों में विभक्त करते हैं। काष्ठादिजदित अग्नि भौम है। आकाशीय विद्युतादि दिव्य तेज है। औदर्य तेज जठराग्नि है। आक-रज सुवर्णादि धातु जनित कान्ति है। वायवीय शरीर पिशाचादि का वायु लोक में पाया जाता है। इन्द्रिय त्वक् है जो कि समस्त शरीर में स्थित स्पर्श ग्राहक है। वृक्षादिकों को कम्पित करने वाली वायु विषय है। यह विषयात्मकवायु शरीर के अन्दर स्थान एवंकार्य भेद से प्राण अपान समान उदान एवं व्यान नामो से व्यवहृत होती है। समवाय

ऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादि संज्ञां लभते। शब्दगुणकमाकाशम् तच्चैकं विभु नित्यञ्च। अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। सचैको विभुर्नित्यश्च। प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। साचैका नित्या विभ्वी च। ज्ञानाधिकरणमात्मा स द्विविधः परमात्मा जीवात्मा चेति। तत्र ईश्वरः सर्वज्ञः परमात्म एक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च। सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः, तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यञ्च। चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपं तच्च शुक्लनीलपीतरक्त हरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं, पृथ्वीजलतेजोवृत्ति। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वरशुक्लं जले भास्वरशुक्लं तेजसि। रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवण कटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः। पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव। घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः। सुरभिरसुरभिश्च। पृथ्वीमात्रवृत्तिः। त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो

सम्बन्ध से शब्दगुण का आश्रय आकाश है जो कि एक विभु एवं नित्य माना गया है। भूतभविष्यादि के व्यवहार का कारण काल है. यह भी एक विभु एवं नित्य है। पूर्वपश्चिम आदि के ज्ञान का कारण दिशा है, जो कि एक नित्य एवं विभु गुणवाली है। ज्ञानसमवायसम्बन्ध से जिस अधिकरण में रहता है उसे आत्मा कहते हैं। इसके जीवात्मा तथा परमात्मा नामक दो भेद हैं। समस्त वेत्ता साक्षात् परमेश्वर ही परमात्मा हैं। जीवात्मा यद्यपि प्रतिशरीर में भिन्न २ प्रतीत होता है तथापि वह विभु एवं नित्य है। सुख दुःखके उपलब्धि ज्ञान की साधनभूत इन्द्रिय ही मन है। वह प्रत्येक जीवात्मा में स्थित होने से अनन्त परमाणुरूप एवं नित्य माना गया है। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जिस गुण का ग्रहण होता है, उसे रूप कहते है यह श्वेत नील पीत रक्त हरित भूरा एव चितकबरा भेद से सात प्रकार का होता है। पृथ्वी जल एवं तेज में पाया जाता है। पृथ्वी में सातो वर्ण जल में केवल अभास्वर शुक्ल एवं तेज में भास्वर शुक्ल है। रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण रस कहलाता है। यह मधुर अम्ल लवण कटु कषाय एवं तिक्त भेद से छः प्रकार का होता है। रस पृथ्वी एवं जल में पाया जाता है पृथ्वी में ६ प्रकार के रस तथा जल में केवल

गुण: स्पर्श: । स च त्रिविध: शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् । पृथिव्यप्तेजो वायुवृत्ति: । तत्र शीतो जले, उष्णस्तेजसि । अनुष्णाशीत: पृथिवीवाय्वो: । रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यं च । अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यञ्च । नित्यगतं नित्यम् । अनित्यगतमनित्यम् । एकत्वादिव्यवहाराऽसाधारणहेतु: संख्या । सा नवद्रव्यवृत्ति: । एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता । एकत्वं नित्यमनित्यञ्च । नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम् । द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव । मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम् । नवद्रव्यवृत्ति । तच्चतुर्विधम्, अणुमहद्दीर्घं ह्रस्वं चेति । पृथग्व्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम् । सर्वद्रव्यवृत्ति: । संयुक्तव्यवहारासाधारणो हेतु: संयोग:, नवद्रव्यवृत्ति: ; संयोगनाशको गुणोविभाग: नवद्रव्यवृत्ति: । परापरव्यवहारासाधारणे कारणे परत्वापरत्वे । ते द्विविधे दिक्कृते

मधुर रस पाया जाता है । घ्राणेन्द्रिय द्वारा गृहीत गुण गन्ध कहलाता है । यह सुगन्ध एवं दुर्गन्ध भेद से दो प्रकार का होता हैं । केवल पृथ्वी में रहता है । त्वगिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण स्पर्श कहलाता है । यह शीत उष्ण एवं अनुष्णाशीत भेद से तीन प्रकार का होता है । पृथ्वी जल तेज एव वायु में यह पाया जाता है । जल में शीत तेज में उष्ण और पृथ्वी एवं वायु में अनुष्णा शीत स्पर्श रहता है । रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श पृथ्वी में पाकक्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं अतः अनित्य है । जल तेज एवं वायु में पाकक्रिया उत्पन्न नहीं होती । येह नित्यद्रव्य में नित्य एव अनित्य द्रव्य में अनित्य माने जाते है । एकत्व आदि व्यवहार का असाधारण कारण संख्या है । यह नवों द्रव्यों में रहती है । एक से परार्धातक गणना होती है, एक संख्या नित्य-द्रव्यों में नित्य एवं अनित्य द्रव्यों में अनित्य मानी गई है दो, तीन आदि सर्वत्र अनित्य है । मान के व्यवहार का असाधारण कारण परिमाण कहलाता है यह परिमाण नवों द्रव्यों में रहता है । अणु महद् दीर्घ एवं ह्रस्व भेद से चार प्रकार का माना गया है । भिन्नता के द्योतन के असाधारण कारण को पृथकत्व कहते हैं । यह समस्त द्रव्यों में पाया जाता है । परस्पर मिलन सम्बन्धी व्यापार के असाधारण कारण को संयोग कहते हैं ।

कालकृते च दूरस्थे दिक्कृतं परत्वं । समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम् । कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम् । आद्यपतनासमवायिकारण गुरुत्वम् । पृथिवी जलवृत्ति । आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम् । पृथिव्यप्तेजोवृत्तिः । तद्द्विविधम् । सांसिद्धिकं नैमित्तिकञ्च, तत्र सांसिद्धिकं जले । नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः । पृथिव्यामग्निसंयोगजं द्रवत्वम् तेजसि सुवर्णादौ । चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः । जलमात्रवृत्तिः । श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः । आकाशमात्रवृत्तिः । स द्विविधः । ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च । तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ । वर्णात्मकः संस्कृतभाषारूपः । सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धि

नवो द्रव्यों में रहता है । संयोग साक्षात्संयोग एवं संयोगजन्य संयोग भेद से दो प्रकार का होता है । संयोग के नाशक गुण को विभाग कहते हैं । यह विभाग नवों द्रव्यों में पाया जाता है । यह भी कर्मज एवं विभागज भेद से दो प्रकार का माना गया है । दूर एवं समीप के व्यवहार का असाधारण कारण परत्व तथा अपरत्व माना गया है । यह दैशिक एवं कालिक सम्बन्ध से दो प्रकार का माना गया है । दिशा जनित दूरस्थ दैशिक परत्व एवं समीपता दैशिक अपरत्व है । आयु की अधिकता कालिकपरत्व है एवं आयु की न्यूनता कालिक अपरत्व है । आद्य पतन का जो असमवायिकारण, वह गुरुत्व गुण कहलाता है । यह पृथ्वी एवं जल में पाया जाता है । आद्य स्यन्दन के असमवायिकारण को द्रवत्व कहते हैं । यह पृथ्वी जल एवं तेज में रहता है । सांसिद्धिक एवं नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का होता है । सांसिद्धिक द्रवत्व केवल जल में पाया जाता है । नैमित्तिक द्रवत्व पृथ्वी और तेज में रहता है जोकि अग्नि संयोग से पार्थिव द्रव्यों में एवं तेजस सुवर्णादि में प्राप्त होता है । पार्थिव चूर्ण के पिण्डीभाव का असाधारण कारण जो गुण, उसे स्नेह कहते हैं । यह केवल जल में रहता है । श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत गुण शब्द कहलाता है । केवल आकाश में रहता है । ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक भेद से दो प्रकार का होता है । ध्वन्यात्मक शब्द नगाड़ा ढोलक आदि में एवं वर्णात्मक भाषा में उत्पन्न होता है । समस्त व्यवहार के ज्ञान का जो असाधारण गुण

ज्ञानम् सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्चेति । संस्कारमात्रजन्यज्ञानं स्मृतिः । तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः स द्विविधो यथार्थोऽयथार्थश्च । तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः यथा सुवर्णे सुवर्णमितिज्ञानम् । सैव 'प्रमा' इत्युच्यते । तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः । यथा शुक्तौ इदं रजतमितिज्ञानम् । यथार्थानुभवश्चतुर्विधः प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात् । तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् । व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम् । अनन्यथासिद्धकार्यनियतपूर्ववृत्तिकारणम् । कार्यं प्रागभावप्रतियोगि । कारणं त्रिविधं समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् । यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्, यथा तन्तवः पटस्य । पट-

उसे बुद्धि कहते हैं। यह स्मृति एवं अनुभव भेद से दो प्रकार की है। केवल संस्कार से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है। स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है। अनुभव भी यथार्थ एवं अयथार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। वस्तुयें, जो जिस प्रकार की है, उसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव यथार्थानुभव है जैसे सुवर्ण में सुवर्ण का ज्ञान। यथार्थ ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं। वस्तु का अभाव होते हुए भी, उसी वस्तु का अनुभव करना अयथार्थ ज्ञान कहलाता है जैसे दीप्ति शुक्ति में रजत का ज्ञान। भ्रामक या मिथ्या ज्ञान ही अयथार्थानुभव या अप्रमा है। यथार्थानुभव प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्दज्ञान भेद से चार प्रकार का माना गया है। इन चारों प्रकारों के ज्ञान के करण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द, चार ही माने गये हैं। क्रिया संलग्न, असाधारण कारण को करण कहते हैं। अन्यथा सिद्धरहित कार्य में नियतपूर्ववृत्ति कारण कहलाता है। प्रागभाव के प्रति योगी को कार्य कहते हैं अर्थात् उत्पत्तिमद् कार्य होता है। कारण समवायि, असमवायि और निमित्त भेद से तीन प्रकार का है। समवाय सम्बन्ध से कार्योत्पत्ति के कारण को समवायि कारण कहते हैं। जैसे तन्तु वस्त्र के एवं वस्त्र अपने रूप का समवायि कारण है। कार्य अथवा कारण में, एकार्थ में समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित जो कारण उसे असमवायि कारण कहते हैं जैसे तन्तुसंयोग पट का असमवायि कारण,

श्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति कारणमसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगःपटस्य। तन्तुरूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम। यथातुरीबेमादिकं पटस्य। यदेतत् त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम्। तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद् द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकम्। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् यथेदं किञ्चित् सप्रकारकंज्ञानं सविकल्पकम्, यथा डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति। प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः। (१) संयोगः। (२) संयुक्तसमवायः। (३) संयुक्तसमवेतसमवायः (४) समवायः (५) समवेतसमवायः (६) विशेषणविशेष्यभावश्चेति। (१) चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः। (२) घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः। चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। (३)रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे

दूसरे तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है। समवायि एवं असमवायि से भिन्न जो कारण उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे वस्त्र बुनने के साधन तुरीबेमादि। वस्तुतः इन तीनों कारणों में जो मुख्य कारण उसे ही करण कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण को भी प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय विषय के सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होता है जोकि निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दो प्रकार का होता है। प्रकारतारहित ज्ञान निर्विकल्पक है जैसे 'यह कुछ है।' प्रकारता या विशेषतायुक्त ज्ञान सविकल्पक है जैसे 'यह ब्राह्मण है, यह श्याम है' इत्यादि। सन्निकर्ष लौकिक एवं अलौकिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। लौकिकसन्निकर्ष संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, एव विशेषणविशेष्यभाव भेद से षट् प्रकार का माना गया है। चक्षुरिन्द्रिय से घट पट मठ आदि का सत्तात्मक प्रत्यक्ष संयोग सन्निकर्ष से होता है। घट के रूप प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय का घट से संयोग सम्बन्ध होने पर समवाय सम्बन्ध से स्थित घट में घटरूप का प्रत्यक्ष समवाय सम्बन्ध से होता है। रूपत्व के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवेत समवाय

संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः। चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपम् समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्।(४) श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः। कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात्। शब्दस्याकाशगुणत्वात् गुणगुणिनोश्च समवायात्। (५) शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः।श्रोत्र-समवेते शब्दे शब्दत्वसमवायात्। (६) अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः। एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तत्करणमिन्द्रियम्। तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षं प्रमाणम् इति सिद्धम्। अनुमितिकरणमनुमा-नम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परा-मर्शः—यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः, इति ज्ञानं परामर्श-स्तज्जन्यं पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानमनुमितिः। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र

सन्निकर्ष होता है। यहाँ पर भी घट का प्रत्यक्ष संयोग से, घट रूप का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय से, एवं घट रूप की जाति या प्रकार आदि भी समवाय सम्बन्ध से ग्रहण होता है। श्रोत्रेन्द्रियद्वारा शब्द का प्रत्यक्ष समवाय सम्बन्ध से होता है क्योंकि आकाशीय श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा आकाशीय गुण शब्द का ग्रहण होता है अतः गुण एवं गुणी का सर्वदा समवाय सम्बन्ध ही माना गया है। शब्दत्व के प्रत्यक्ष में समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द से समवाय सम्बन्ध एवं शब्द का अपनी प्रकारतादि से समवाय सम्बन्ध है। अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष होता है जैसे 'यह घटशून्य पृथ्वी है' यहाँ पर अभाव का विशेषण द्वारा उल्लेखकर विशेषसम्बन्ध से कल्पनान्तर्गतप्रत्यक्ष करते हैं। अतः प्रत्यक्ष का लक्षण यह भी है कि 'सन्निकर्षज ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। सन्निकर्षज ज्ञान का कारण इन्द्रियां है। इन्द्रियों से प्रत्यक्ष प्रमाण है।' अनुमिति के करण को अनुमान कहते है। परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। व्याप्तिविशिष्टगुणयुक्त पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते है जैसे वह्नि का व्याप्य धूम वाला यह पर्वत है, इस प्रकार के ज्ञान को परामर्श तथा परामर्शजन्य ज्ञान 'पर्वत अग्निवाला है' को अनुमिति कहते है। जहां जहां धूम है वहाँ २ अग्नि है इस प्रकार के

वह्निः इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता। अनुमानं द्विविधम् स्वार्थं परार्थं चा तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः तथाहिस्वयमेव भूयो भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्नः इति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गत्वा तद्गते चाग्नौ सन्दहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिंस्मरति यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तदन्तरं वह्नि-व्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते तस्मात्पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम् यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्यर्थं पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते तत्परार्थानुमानम्। यथा 'पर्वतो अग्निमान्' धूमवत्वात् यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसम् तथा चायम् तस्मात्तथा इति। अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात्परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः 'पर्वतो वह्निमान्' इति प्रतिज्ञा। धूमवत्वात् इति

नियम पूर्वक साहचर्यज्ञान को व्याप्ति कहते हैं। व्याप्य पदार्थों का आश्रय में रहना पक्षधर्मता कहलाता है। यह अनुमान स्वार्थ एवं परार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। स्वार्थानुमान अपनी अनुमिति का साधन है, जैसे किसी पुरुष को जहाँ २ धूम होता है वहां २ अग्नि होती है इस पूर्वानुभूतिव्याप्ति ज्ञान के स्मरण व्यापार से व्याप्ति ज्ञान के पश्चाद् वह्निका व्याप्य धूम, तद्वान् यह पर्वत है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी को लिङ्ग परामर्श भी कहते है। इस लिङ्ग परामर्श से उत्पन्न ज्ञान पर्वत अग्निवाला है अनुमिति कहलाता है। यही स्वार्थानुमान है। जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे को समझाने के लिये पञ्चावयव वाक्य का उपयोग करता है, तब उसे परार्थानुमान कहते है जैसे पर्वत अग्निवाला है, धूमयुक्त होने से, जो २ धूम वाला होता हैं वह २ अग्नि वाला भी होता है, जैसे रसोई घर, वैसा ही यह है अतः तैसा ही है। इस प्रकार से प्रतिपादन करने पर दूसरे को भी अनुमान द्वारा अग्नि ज्ञान हो जाता हैं। प्रतिज्ञा-हेतु उदाहरण उपनय निगमन यह पञ्चावयववाक्य हैं। पर्वत अग्नियुक्त है यह प्रतिज्ञा है। धूम युक्त होने से यह हेतु है जो २ धूमवाला है वह २ अग्निवाला भी है जैसे

हेतुः। यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसम् इत्युदाहरणम् तथाचायम् इत्युपनयः तस्मात्तथा इति निगमनम् ॥ स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। लिङ्गं त्रिविधं अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्वम्। यत्र धूमः तत्राग्निः यथा महानसम् इत्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्ति यथा ह्रदः इति व्यतिरेकव्याप्तिः। अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा—घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति सर्वस्य प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च। व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि यथा—पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात्। यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत् यथा जलम्। नचेयं तथा। तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत्तदितरेभ्यो

रसोईघर यह उदाहरण है। वैसा ही यह है उपनय है। तैसा ही है यह निगमन है। वस्तुतः स्वार्थानुमिति एवं परार्थानुमिति का मुख्य करण लिङ्गपरामर्श है अतः लिङ्गपरामर्श को ही अनुमान कहते है। अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि भेदसे तीन प्रकार का लिङ्गपरामर्श होता है। जिसमें अन्वय एवं व्यतिरेकि दोनो प्रकार की व्याप्ति होती है उसे अन्वयव्यतिरेकि कहते है जैसे धूम से वह्नि का साधन 'जहां धूम है वहां आग्नि है' इस प्रकार अन्वयव्याप्ति का ग्रहण होता है। व्यतिरेक व्याप्ति जैसे जहां अग्नि नहीं होती वहां धूम भी नही होता जैसे नदी तालाब आदि। जिसमें केवल अन्वय द्वारा व्याप्ति मिलती है उसे केवलान्वयि कहते है। जैसे घड़ा अभिधेय है प्रमेय होने से जो २ प्रमेय है वह २ अभिधेय भी है अतः अभिधेय एवं प्रमेय समस्त पदार्थों में मिलता है अतः यहाँ पर व्यतिरेकव्याप्ति नहीं मानी जाती। केवल व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा ग्राह्य ज्ञान केवल व्यतिरेकि कहलाता है। जैसे पृथ्वी जलादि से भिन्न है, गन्धगुण के कारण जो अन्य द्रव्यों से भिन्न नहीं है उसमें गन्ध भी नहीं है जैसे जल। पृथ्वी वैसी नहीं है। गन्धशून्य नहीं है। यह गन्धवाली ही है। यहां पर जो गन्धवाला है

भिन्नम् इत्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्। सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः यथा धूमवत्त्वे सति हेतौ पर्वतः। निश्चतसाध्यवन् सपक्षः यथा तत्रैव महानसम्। निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः यथा तत्रैव महाह्रदः। सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षाऽसिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः। सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः स त्रिविधः साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्। (१) साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा 'पर्वतोऽग्निमान् प्रमेयत्वात्' इति प्रमेयत्वस्य अग्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्। (२) सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः यथा 'शब्दो नित्यः' शब्दत्वात् इति। शब्दत्वं सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यो व्यावृत्तं शब्दमात्र वृत्तिः। (३) अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी यथा सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात् इति अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति॥ साध्याभावव्या

वह अन्य पदार्थों से भिन्न भी है इसका अन्वय दृष्टान्त नहीं है क्योकि समस्त पृथ्वी का ग्रहण हो जाने से तथा पृथ्वी से भिन्न पदार्थों में गन्धाभाव होने से दृष्टान्त ही नहीं मिल सकता। संदिग्ध साध्य की सिद्धि हेतु द्वारा जिस आश्रय में की जाती है उसे पक्ष कहते है। साध्य के निश्चित आश्रय को सपक्ष कहते है। साध्य के निश्चित अभावयुक्त आश्रय को विपक्ष कहते है। सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध एवं वाधित पांच प्रकार का हेत्वाभास माना गया है। अनिश्चित हेतु को सव्यभिचार माना गया है। यह साधारण, असाधारण एवं अनुपसंहारि भेद से तीन प्रकार का है जो हेतु पक्ष में रहते हुए सपक्ष एवं विपक्ष में भी रहे उसे साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते है जैसे पर्वत अग्निवाला है प्रमेयगुण होने से। यहां पर हेतु प्रमेयत्व है प्रमेयत्व नदी नद आदि में सर्वत्र है जहां अग्नि नहीं है। समस्त सपक्ष विपक्ष शून्य केवल पक्ष में रहने वाला अनिश्चित हेतु असाधारण है जैसे 'शब्द नित्य है शब्दत्व धर्म होने से'। शब्दत्व किसी भी नित्य या अनित्य पदार्थ में नहीं पाया जाता। यह केवल शब्द में ही रहता है। अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्त रहित अनिश्चित हेतु अनुपसंहारी कहलाता है समस्त पदार्थ अनित्य है प्रमेय होने से यहां पर समस्त पदार्थों का ग्रहण हो जाने से

प्तोहेतुर्विरुद्धः । यथा—शब्दो नित्यः कृतकत्वात् इति । कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम् । साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः । यथा—शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्, शब्दो नित्यः कार्यत्वात् घटवत् । असिद्धस्त्रिविधः आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति । (१) आश्रयासिद्धो-यथा-गगनारविन्दंसुरभि अरविन्दत्वाद् सरोजारविन्दवत् । अत्र गगनारविन्दमाश्रयः सच नास्त्येव । स्वरूपासिद्धो यथा शब्दो गुणः चाक्षुषत्वात् रूपवत् । अत्र चाक्षुषत्वं शब्देनास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात् । सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वंमुपाधिः । साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम् । साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधना व्यापकत्वम्, पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात् इत्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः,

दृष्टान्त हो नहीं है । साध्य के अभाव के व्याप्य हेतु को विरुद्ध कहते है जैसे शब्द नित्य है क्योंकि यह उत्पन्न होता है । वस्तुतः जो उत्पन्न होता है वह नित्यतारहित अनित्य कार्य रूप होता है । जिसके साध्य के अभाव का साधन अन्य हेतु द्वारा भी हो उसे सत्प्रतिपक्ष कहते है जैसे शब्द नित्य है श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राहय होने से शब्दत्ववत् ऐसा कहने पर शब्द अनित्य है कार्य होने से घट वत् इत्यादि । आश्रयासिद्ध, स्वरुपासिद्ध व्याप्यत्वासिद्ध भेद से असिद्ध तीन प्रकार का है । आश्रयासिद्ध का उदाहरण 'गगन कमल सुगन्धित है, कमल होने से तालाब के कमल तुल्य' । यहां पर 'आकाश का कमल जो आश्रय ग्रहण है वह हो निराधार है । स्वरुपा सिद्ध का उदाहरण 'शब्द गुण है चाक्षुस होने से रूप के समान' यहाँ पर शब्द में चाक्षुषत्व नहीं है क्योंकि यह श्रोत्रेन्दिय द्वारा ग्राहय है । उपाधियुक्त हेतु व्याप्यत्वा सिद्ध कहलाता है । साध्य का व्याप्य होते हुए साधान का अव्यापक होना उपाधि कहलाता है । साध्य के अधिकरण में रहने वाला जो अभाव, उसका अप्रति योगी, साध्य व्यापकत्व माना गया है । हेतु के अधिकरण में रहने वाला जो अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगी होना साधना व्यापकत्व है पर्वत में धूम है अग्नि होने से, यहां आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है । जहां २ धूम हैं वहां २ आर्द्रेन्धन संयोग है यह साध्यव्यापकता है । जहां केवल अग्नि है वहाँ सर्वत्र आर्द्रे-

यत्र २ धूमः तत्राद्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकता। यत्र वह्निस्तत्राद्रेन्धन संयोगो नास्ति अयोगोलके आर्द्रेन्धनसयोगाभावादिति साधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वात् आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वात् अग्निमत्वं व्याप्यत्वासिद्धम्। यस्यसाध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः यथा—वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्रानुष्णत्वं साध्यम्। तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्। उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः, तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। तथाहि गवयशब्दवाच्यमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवयः' इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशपिण्डं पश्यति, तदनन्तरं 'असौ' गवयशब्दवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते। आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः यथा गामानयेति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदाद्-

---

न्धन संयोग नहीं है क्योंकि तप्त अयोगोलक में अग्नि है किन्तु आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है साधनव्यापकता है। इस प्रकार साध्य का व्यापक होते हुए साधन का अव्यापक होना आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि माना गया है। उपाधियुक्त वह्नि की सिद्धि व्याप्यत्वा सिद्धि कहलाती हैं। जिसके साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण द्वारा निश्चित हो उसे बाधित हेत्वाभास कहते हैं। जैसे द्रव्य होने से अग्नि उष्ण नहीं है, यहां पर अनुष्णता साध्य है। किन्तु तत्प्रति योग उष्णता का स्पार्शन-प्रत्यक्ष होता है अतः यह बाधित है। उपमिति के करण को उपमान कहते है। संज्ञा एवं संज्ञी के सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति कहते है जिसका कि करण सादृश्य ज्ञान है। इसमें अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण अवान्तर व्यापार है। जैसे गवय पदार्थ अनभिज्ञ कोई पुरुष किसी आरण्यक मनुष्य से 'गौ के समान गवय होती है' ऐसा केवल सुनकर किसी समय बन जाता है और वहाँ वह गौ के समान एक नवीन पशु को देखकर 'गौ के समान गवय होती है' इस वाक्य को स्मरण कर निश्चय के साथ यह गवय है ऐसा ज्ञान करता है, इसे उप मिति कहते है। आप्त वाक्य शब्द प्रमाण है। यथार्थ वक्ता को आप्त कहते है।

यमर्थो बोधव्य इतीश्वरेच्छासंकेतः शक्तिः। आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चारणं संनिधिः। आकांक्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा—गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणं आकांक्षाविरहात्। वह्निना सिंचेत् इति न प्रमाणं योग्यता विरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न प्रमाणं सान्निध्याभावत्। वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकञ्च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्। वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानं तत्करणं शब्दः। अयथार्थानुभवस्त्रिविधः संशयविपर्ययतर्कभेदात् एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्टयावगाहिज्ञानं संशयः। यथा—स्थाणुर्वापुरुषो वेति। मिथ्याज्ञान विपर्ययः।

जैसे गौ लाओ इस प्रकार के पद समूह को वाक्य कहते है। शक्ति समन्वित शब्द पद है। इस पद से इस अर्थ का बोध करना चाहिये इस प्रकार ईश्वरेच्छा ही शक्ति है। वाक्य के अर्थ ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि को हेतु माना गया है। पद का पदान्तर व्यतिरेक द्वारा प्रयुक्त अन्वय का अननुभावकत्व ही आकाक्षा है। अर्थ का बाधन होना योग्यता है। पदो का अविलम्ब उच्चारण सन्निधि है। आकांक्षा रहित वाक्य अप्रमाण है जैसे गौ, अश्व, पुरुष हस्ति इत्यादि क्योंकि इनमें परस्पर आकांक्षा का अभाव है। 'आग से सीचों' यह प्रमाणित नहीं है योग्यता के अभाव के कारण। बहुत देर देर पर अलग २ 'उच्चारित गौ-ला ओ' इत्यादि वाक्य प्रमाण नहीं है सान्निध्य के अभाव के कारण। यह वाक्य वैदिक एवं लौकिक भेद से दो प्रकार का है वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से पूर्णतः प्रमाणित है। लौकिक वाक्य आप्त द्वारा प्रमाणित है। शेष वाक्य प्रमाणिक नही है। वाक्य के अर्थ ज्ञान को शाब्द ज्ञान तथा शाब्द ज्ञान का असाधारण कारण शब्द माना जाता है। संशय विपर्यय एवं तर्क भेद से अयथार्थानुभव तीन प्रकार का है एक ही वस्तु में अनेक परस्पर विरुद्ध वस्तुओं के ज्ञान को संशय कहते है जैसे यह स्थाणु है कि पुरुष इत्यादि। मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते

यथा—शुक्ताविदं रजतमिति । व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्क; । यथा यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति । स्मृतिरपि द्विविधा यथार्थाऽयथार्था च प्रमाजन्या यथार्था अप्रमाजन्याऽयथार्था । सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम् । प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् । इच्छा कामः । क्रोधो द्वेषः । कृतिः प्रयत्नः । विहितकर्मजन्यो धर्मः । निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः । बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः । बुद्धीच्छाप्रयत्ना द्विविधाः नित्याः अनित्याश्च । नित्या ईश्वरस्य । अनित्या जीवस्य । संस्कारस्त्रिविधः वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति । वेगः पृथिव्यादि चतुष्टयमनोवृत्तिः अनुभवजन्यास्मृतिहेतुर्भावना आत्ममात्रवृत्तिः । अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादकः स्थितिस्थापकः कटादिपृथिवीवृत्तिः । चलनात्मकं कर्म । ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम् । अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम् । शरीरसन्निकृष्टसंयोग हेतुराकुञ्चनम् । विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम् । अन्यत्सर्वं

है जैसे शुक्ति में रजत का ज्ञान । व्याप्य की सत्ता से व्यापक की सत्ता मानना तर्क कहलाता है जैसे यदि वह्नि नहीं है तो धूम भी नहीं है । स्मृतिज्ञान भी यथार्थ एवं अयथार्थ भेद से दो प्रकार का है । प्रमाजन्य स्मति यथार्थ एवं अप्रमाजन्यस्मृति अयथार्थ कहलाती है । समस्त जीवों के अनुकूल अभिधेयानुभव सुख है और प्रतिकूल अभिधेयानु भव दुःख है । कामना ही इच्छा है । द्वेष क्रोध है. उद्योग हो प्रयत्न है । वेदादि विहित कम करना धम है एवं वेदादि विरुद्ध अनुचित कार्य करना अधर्म है । बुद्धि इच्छा प्रयत्नादि अष्टगुण आत्माके ही प्रधान गुण हैं । बुद्धि इच्छा प्रयत्न नित्य एवं अनित्य भेद से दो २ प्रकार के होते हैं । ईश्वर में यह नित्य तथा जीव में अनित्य हैं । संस्कार वेग, भावना एवं स्थिति स्थापक भेद से तीन प्रकार का होता है । वेग पृथ्वी जल तेज वायु एवं मन में रहता है । अनुभवद्वारा उत्पन्न स्मृति का कारण भावना है जो कि केवल आत्मा में रहती है । स्वरूपपरिवर्तन करने पर पुनः अपनेपूर्वावस्था में आना स्थिति स्थापक कहलाता है यह गुण पार्थिव पदार्थों में पाया जाता है । गति ही कर्म है । ऊपर की ओर गति उत्क्षेपण निम्न गति अपक्षेपण, शरीर सन्निकृष्ट संकोच आकुञ्चन, शरीर का विस्तार प्रसारण, तथा अन्य समस्त गतियाँ गमन शब्द से गृहीत होती हैं । यह

गमनम् । पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्ति। नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद्द्विविधं परापरभेदात, परं सत्ता अपरं द्रव्यत्वादि । नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषा; । नित्यसमबन्धः समवायः, अयुतसिद्धवृत्तिः ययोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । यथा अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ जातिव्यक्ती विशेषनित्यद्रव्ये चेति । अनादिः सान्तः प्रागभावः । उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य । सादिरनन्तः प्रध्वंसः। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य । त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः । यथा भूतले घटो नास्ति इति । तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽन्योन्याभावः । यथा—'घटः पटो न' इति ।सर्वेषामेव पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वेवान्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम् ।

गति पृथ्वी जल तेज वायु एव मन में रहती है । नित्यता के साथ अनेक पदार्थों में समवेतत्व सामान्य माना जाता है । यह द्रव्य गुण एवं कर्म में रहता है । पर एवं अपर भेद से दो प्रकार का है । पर सामान्य का उदाहरण सत्ताजाति एवं अपर सामान्य का उदाहरण द्रव्यत्व गुणत्व आदि है । द्रव्यों में नित्य रहने वाले व्यावर्तक विशेष कहलाते है। नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। यह अयुत सिद्धपदार्थों में रहता है। दो पदार्थ जब एक दूसरे के आश्रित हो तो उसे अयुत सिद्ध कहते है जैसे अवयव-अवयवी, गुण एवं गुणो क्रिया-क्रियावान्, जातिव्यक्ति वशेष एवंनित्यद्रव्य प्रतियोगीज्ञानके अधीनज्ञानका विषयअभाव है। आदि रहित अन्तयुक्त प्रागभाव कहलाता है। जैसे कार्योत्पत्ति के पूर्व कार्याभाव प्रागभाव है। जो आदियुक्त अन्तरहित हों वह प्रध्वंसाभाव होता है जैसे कार्योत्पति के पश्चात् कार्यनाश भूत । भविष्य एवं वर्तमानकाल में व्यापकता से प्रतियोगीज्ञानाधीनज्ञानविषय अत्यन्ताभाव है जैसे भूतल में घट नहीं हैं।तादात्म्यसम्बन्धयुक्त प्रतियोगिताक अभाव अन्योऽन्याभाव है 'घड़ा कपड़ा नही है,। गौतममुनिके प्रमाणप्रमेयादि सोलहपदार्थो इन सात पदार्थों में समन्वित हो जाते हैं अतः सात ही पदार्थ है।

श्री अमरनाथायनमः

मुक्तावलीकृतमंगलवादः

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णायनमः संसारमहीरुहस्यवीजाय ॥
चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।
भवोभवतुभव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥
निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननुरजीवदयावशंवदः ॥
सद्द्रव्यागुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणांज्ञापिका ।
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ॥
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतनासिद्धान्त मुक्तावली ।
विन्यस्ता मनसोमुदं वितनुतां सद्युक्ति रेषाचिरम् ॥

विघ्नविघातायकृतं मंगलं शिष्यशिक्षायै निवध्नाति, नूतनेत्यादि । ननुमंगलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं विनापि मंगलं नास्तिकादीनांग्रन्थे निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादितिचेन्न । अविगीत-शिष्टाचारविषयत्वेन मंगलस्यसफलत्वेसिद्धे तत्र च फलजिज्ञासायां

उमापतिं मञ्जुलनीलकण्ठं महानटं नूतन चन्द्रचूडम् ।
भूतिप्रदं भूतपतिं भवेशं ज्ञानप्रदं त्र्यम्बकमीशमीडे ॥

आस्तिक गुरुजन सर्वदा ग्रन्थ के आरम्भ में ईश्वरादि अभीष्ट देवताओं को विघ्नोंको दूर करने के हेतु स्मरण करते हैं तथा इस देव स्मरण को, जिसे मंगला चरण कहते हैं, शिष्यों के शिक्षार्थ ग्रन्थ के साथ सम्बद्ध भी कर देते हैं जिससे कि वह भी ऐसा करें । किन्तु, मंगलाचरण न तो विघ्नध्वंस करने में कारण है और न ग्रन्थ की समाप्ति का ही कारण है क्योंकि विना मङ्गल के भी नास्तिक आदि विद्वानों को ग्रन्थों में निर्विघ्न पूर्णता प्राप्त होती है, ऐसा कहना अनुचित है । मंगल आप्त विद्वज्जनों द्वारा प्रयुक्त होने से फलवाला है । अविगीत शिष्ट गण निरर्थक कार्य कभी भी नहीं करते अतः फल विचार करते समय उपस्थितफल ग्रन्थविषयक विघ्नध्वंस एवं ग्रन्थ की

सम्भवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वाद् उपस्थितत्वा-च्च समाप्तिरेव हि फलं कल्प्यते। इत्थञ्च यत्र मंगलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयंतत्कल्प्यते। यत्र च सत्यपि मंगले समाप्ति र्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यं, प्रचुरस्यैवास्य बलवत्तरविघ्ननिरा-करणकारणत्वं, विघ्नध्वंसस्तु मंगलस्यद्वार मित्याहु: प्राञ्च:। नव्यास्तु मंगलस्य विघ्नध्वंस एव फलं समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारणकलापात्। न च स्वत: सिद्ध विघ्नविरहवता कृतस्यमङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरितिवा-च्यम्। इष्टापत्ते:, विघ्नशंकया तदाचरणात्। तथैव शिष्टाचारात्। न च तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्. सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेद बोधितत्वाद्।

समाप्ति ही प्रस्तुत होती है। यदि यहां पर उपस्थित दृष्टफल (विघ्न ध्वंस या ग्रन्थ समाप्ति) से भिन्न अदृष्टफल स्वर्गादि की कल्पना की जाय तो अनुचित एवं अप्रासंगिक है अत: ग्रन्थ की समाप्ति ही फल मानते हैं। इस प्रकार मंगल का फल ग्रन्थ समाप्ति स्वीकार कर लेने पर जिन२ ग्रन्थों में मङ्गलाचरण नहीं दिखाई देता उनमें भी जन्मान्तरीय मङ्गला-चरण की कल्पना करते हैं, और जहां पर मङ्गलाचरण होते हुए भी ग्रन्थ की समाप्ति नहीं होती, वहां पर बलवत्तर विघ्न या विघ्नों की अधिकता की उपस्थिति होती है। बलिष्ठ मंगल ही बलिष्ठ विघ्न ध्वंस का नाशक होता है अत: बलिष्ठ या प्रचुर मङ्गलाचरण में ही कार्यकारण भाव निहित हैं। प्राचीन नैयायिक मङ्गलाचरण से विघ्न ध्वंस होकर ग्रन्थ की समाप्ति रूपी फल मानते हैं। नवीन नैयायिक विघ्नध्वंस ही फल मानते हैं। ग्रन्थ की समाप्ति में योग्यता प्रतिभा विघ्नध्वंस आदिकारणसमुदाय की उपस्थिति होना आवश्यक है। प्रश्न यह है कि जब पूर्वजन्मीय मङ्गल को भी कारणता है तो विघ्न शून्य एवं पूर्वजन्म में मंगलाचरण किये हुए व्यक्ति द्वारा जब इस जन्म में पुन: मंगल किया जायगा तो उसमें निष्फलता लगेगी। निष्फल कर्म करने का वेदादि में निषेध किया है। किन्तु आस्तिक इस प्रकार के समस्त कार्यों को अभीष्ट स्वीकार करता है, क्योंकि यह

अतएव पाप भ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्यनिष्फलत्वे न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम् । मङ्गलन्तु विघ्नध्वंसविशेषे कारणं, विघ्न ध्वंस विशेषेच विनायकस्तव पाठादि । क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वाद् इत्थञ्च नास्तिकादीनां ग्रन्थेषु जन्मान्तरीयमङ्गलजन्यदुरितध्वंसः, स्वतःसिद्ध-विघ्नात्यन्ताभावो वास्तीति न व्यभिचार इत्याहुः ।

कार्य विघ्नों की शंका में सार्थक है । ऐसा ही शिष्टजनों का उपदेश एवं आचरण मिलता है । नास्तिक पुनः कहता है कि यदि विघ्नशंका में मंगलाचरण करना आपके तर्क के आधार पर स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी विघ्न विरहवान् पुरुष द्वारा मंगलाचरण करने पर श्रुति में "विघ्नध्वंस कामो मङ्गलमाचरेत्" अप्रामाण्य दोष उपस्थित होगा । यहां पर आस्तिकों का कथन यह है कि विघ्नसमानाधिकरण मङ्गल में विघ्न ध्वंसजनकत्व श्रुति प्रतिपाद्य है अतः विघ्नों की उपस्थिति में ही मंगल में विघ्नध्वंसजनकत्व सार्थक है अतएव पाप भ्रमसे प्रायश्चित करने पर जो कि वस्तुतः निष्फल है, "पापी प्रायश्चित्तमाचरेत्" इत्यादि वेद वाक्यों में निष्फलता दोष नहीं लगता है ।
'सर्वे विघ्नाः शमं यान्ति गणेशस्तवपाठतः' इस श्रुति से यह स्पष्ट है कि विघ्नध्वंस के प्रति गणेशस्तुति को कारण माना है ऐसी अवस्था में मंगल को विघ्नध्वंस के प्रति कारण मानने पर श्रुति में अप्रामाण्य अथवा अन्यथासिद्ध दोष उपस्थित होगा अतः इस आपत्ति का उत्तर यह है कि विघ्नध्वंस विशेष के प्रति मंगल को तथा विघ्नध्वंस विशेष के प्रति ही गणेश स्तुति को कारणता है इसी प्रकार 'स्वस्तिनः इन्द्रो वृद्धश्रवाः' इत्यादि स्वस्तिवाचनान्तर्गत मन्त्रों को विघ्नविशेषध्वंस में कारणता सिद्ध है । कहीं २ ग्रन्थों की समाप्ति विघ्नों के अत्यन्ताभाव के कारण बिना मंगल किये हुए हो जाती है क्योंकि बाधक विघ्नों का अभाव होता है इस प्रकार नास्तिकों के ग्रन्थों में कहीं पर जन्मान्तरीय मंगल द्वारा विघ्नों का नाश, या विघ्नों का अत्यन्ताभाव ही स्वतः ग्रन्थ की समाप्ति में कारण होने से व्यभिचार दोष नहीं लगता ।

संसारेति—संसार एव महीरुहो वृक्षः तस्यबीजाय। एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति। तथाहि यथा—घटादि कार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यंकुरादिकमपि। न च तत्कर्तृत्व मस्मदादीनां संभवतीत्यतस्तत्कर्तृ-त्वेनेश्वर सिद्धिः। न च शरीराजन्यत्वेन कर्तृजन्यत्व साधकेन सत्प्रति-पक्ष इतिवाच्यम्, अप्रयोजकत्वाद्। ममतु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारण भाव एव अनुकूलस्तर्कः। 'द्यावा भूमी जनयन्देव एकः' 'विश्वस्यकर्ता भुवनस्यगोप्ता' इत्यादय आगमाप्यनुसंधेयाः।

मंगलाचरण में ग्रन्थकर्ता ने 'संसारमहीरुहस्यबीजाय' इस पद का द्योतन कर ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानकर ईश्वर की सत्ता में भी प्रामाण्य माना है। नास्तिक ईश्वर को नहीं मानता अतः उसके मत में ईश्वर के लिये नमस्कारादि कार्य निरर्थक एवं अनुचित हैं। उसका तर्क यह है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर अरूप द्रव्य होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है। मानसप्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि विजातीय आत्ममनः संयोग के ज्ञानार्थ किसी हेतु का होना आवश्यक है जिसका कि ईश्वर में अभाव है। अनुमान भी लिङ्गाभाव के कारण नहीं किया जासकता तथा उपमान प्रमाण भी सादृश्य ज्ञान के अभाव के कारण चरितार्थ नहीं है 'द्यावाभूमी जनयन्देव एकः' इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा भी ईश्वर में प्रामाण्य स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि श्रुत्यादि में ईश्वरोक्त होने से ही प्रामाण्य माना गया है। आस्तिक इन शंकाओं का निराकरण कार्य कर्तृत्व हेतु द्वारा अनुमान से ईश्वर सिद्धिकर करता है। क्षित्यंकुरा-दिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत् इस प्रकार से अनुमान का स्वरूप उपस्थित होने पर ईश्वर की सिद्धि अनुमान द्वारा हो जाती है। समस्त पृथ्वी या विशिष्ट पृथ्वी किसका कर्ता ईश्वर है, इस शंका को दूर करने के लिये क्षिति के साथ अंकुरादि शब्द संयुक्त किया गया है जिससे कि किसी व्यक्ति विशेषादि का ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः जो भी कर्ता है वही ईश्वर है अतः ईश्वर सिद्धि हो जाती है। नास्तिक हेतु को अन्यथासिद्ध करने के लिये तथा ईश्वर की सत्ता

अस्वीकारार्थ दूसरे प्रकार से अनुमान करता है। उसका कथन है कि 'क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यत्वाभाववत् शरीराजन्यत्वाद् गगनादिवत्' अतः सत्प्रतिपक्ष दोष ईश्वर की सिद्धि में है। किन्तु आस्तिकों का कथन है कि 'शरीराजन्यत्वं कृत्यजन्यत्वव्यभिचारि न वा' इत्याकारक व्यभिचारिशंका निवृत्यर्थ कोई तर्क हेतु में नहीं है अतः इस प्रकार का अनुमान अप्रयोजक होने से सामर्थ्यशून्य है। सामर्थ्यशून्यता के कारण सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं लगता है। समान शक्ति हेतुओं में होने पर ही सत्प्रतिपक्ष दोष लगता है। हम कार्य कर्तृत्व सम्बन्ध द्वारा कार्य कारण भावानुकूल ही तर्क करते हैं अतः अनुमान द्वारा निर्विवाद ईश्वर की सिद्धि होती है। अनुमान द्वारा ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर ईश्वरोक्त वेद में भी प्रामाण्य आजाता है अतः श्रुति द्वारा भी 'द्यावा भूमी जनयन् देव एकः' 'विश्वस्य कर्ता भुवनस्यगोप्ता' इत्यादि वाक्यों द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाश्च साध्यो विश्वविदव्ययः।

इत्यत्र कार्यानुमानं चोपलक्षणम्। सर्गाद्यकालीन द्वयणुक प्रयोजकं कर्म प्रयत्नजन्यं कर्मत्वाद्। गुरुत्ववतां पतनाभावः पतनप्रतिबन्धकप्रयत्नप्रयुक्तः धृतित्वाद् पक्षिपतनाभाववत्। ब्रह्माण्डनाशः प्रयत्नजन्यः नाशत्वाद् घटनाशवत्। घटादिव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यः व्यवहारत्वाद् आधुनिककल्पितलिप्यादिवत्। वेदजन्यप्रमा वक्तृयथार्थ वाक्यार्थज्ञानजन्या शाब्द प्रमात्वात् चैत्रवाक्यजन्यप्रमावत्। वेदः असंसारि पुरुषप्रणीतः वेदत्वात् वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वाद् यन्नैवं तन्नैवयथा काव्यमिति व्यतिरेकदृष्टान्तः भारतवत्। द्वयणुकपरिमाणजनिकासंख्या अपेक्षा बुद्धिजन्या एकत्वान्यसंख्यात्वादित्यनुमानान्तराण्यपि साक्षात् परंपरया वा ईश्वर साधकानि बोध्यानीति। दिनकरी

विराजते गाङ्गं पवित्रनीरं जूटे जटायाः नवनूतनाकृतिम्।
शिवान्वितं मञ्जुलवामभागं वृषाधिरूढं तमहं नमामि॥
सर्वान् गुरूंश्चापिमहानुभावान् विद्याप्रभोद्दीप्तदिगन्तरालान्।
प्रणम्य चित्तेन समाहितेन पदार्थमीमांसनमातनोमि॥

विषय-सूची

प्रथमोल्लास

द्वितीयोल्लास

तृतीयोल्लास

"ओं वेद ब्रह्मणेनमः"

पदार्थ मीमांसा

प्रमाण विज्ञानीय प्रथम उल्लास

ज्ञान संसार में अद्वितीय तत्व है। ज्ञान से ही भवबन्धन से मुक्ति होती है। ज्ञान को वेद या ब्रह्मरूप से दार्शनिकों ने अङ्गीकार किया है। वेदादि में "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" एवं दर्शनकारों ने भी "तत्वज्ञानान्निः-श्रेयसाधिगमः" "व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इत्यादि स्पष्ट शब्दों द्वारा ज्ञान को प्राधान्य प्रदान किया है। आयुर्वेदशास्त्र ज्ञानमूलक ही है। सांख्य-कारिकाकार ने प्रकृति, विकृति एवं पुरुषका ज्ञान ही (आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक) दुःख-त्रय निवृत्त्यर्थ एकमात्र कारण माना है, जो कि आयुर्वेदशास्त्र का परम लक्ष्य है। यह ज्ञान आत्मा में आश्रित होने से 'आत्माश्रित' कहलाता है। इसके स्मृति तथा अनुभव दो भेद होते हैं।

स्मृति तथा अनुभव—संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है, जैसे किसी वस्तु का प्रथम अनुभव प्राप्त हुआ हो और उसका भावनाख्य संस्कार कालान्तर में भी विद्यमान हो, ऐसी अवस्था में तत्सदृश, तद्विपरीत एवं तद्सहकारि वस्तु के पुनः दर्शन होने पर वह भावनाख्य संस्कार उस प्रथम अनुभूत वस्तु को पुनः उसी रूप में उपस्थित कर देता है, इस प्रकार स्मृतिजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है। स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है। इसके यथार्थ (प्रमा) और अयथार्थ (अप्रमा)

१—**दुःखत्रयाभि घाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।**
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततो भावात्॥
दृष्ट वदानुश्रविकः सह्यविशुद्धि-क्षयातिशययुक्तः!
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्॥ सां० का० १, २,

दो भेद किये गये है। वस्तुत: किसी भी वस्तु के सत्य ज्ञान को ही यथार्थज्ञान (प्रमा) कहते हैं। प्रकारान्तर से अनुभूति के प्रत्यक्षादिक भेद भी माने जाते हैं।

प्रमाण—प्रकर्षेण संशयादि व्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्वं येन तत् प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा के साधन को प्रमाण कहते है। इस प्रमाण में स्वत: तथा परत: दो प्रकार से प्रामाण्य माना जाता है। मीमांसक स्वत:प्रामाण्यवाद और नैयायिक परत:प्रामाण्य अङ्गीकार करते है। स्वत:प्रामाण्यवाद में ज्ञान के साथ ही साथ उसकी प्रामाण्यकता की सिद्धि स्वयं मानी जाती है। परत: प्रामाण्य वाद में ज्ञान के पश्चात्, उसके प्रामाण्य को युक्तियों द्वारा पुष्ट करना आवश्यक है। नैयायिको का कथन यह है कि यदि समस्त ज्ञान स्वत: प्रमाणभूत अङ्गीकार किया जाय तो संशय की कहीं पर सम्भावना भी नहीं हो सकती है। वस्तुत: ज्ञान में प्रामाण्य अनुभूति वस्तु के साथ, उसके तादात्म्य निष्ठता में निहित माना गया है। क्योंकि ज्ञानोत्तर क्रमश: इच्छा और यत्न का प्रादुर्भाव होता है तथा यत्न की सफलता पर ज्ञान यथार्थ माना जाता है। अतएव ज्ञान के प्रमा होने में 'समर्थप्रवृत्तिजनकता' को प्रधानता प्रदान की गयी है। तत्वचिन्तामणिकार भी अनुमान द्वारा ही ज्ञान के प्रामाण्य को सिद्ध करने का निर्देश करते है, अत: न्याय दृष्टि द्वारा प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य परत: सिद्ध ही माने गये हैं।

भ्रान्ति[3]— कुछ विशेष परिस्थितियों में हम लोग सन्निकर्षजज्ञान की मिथ्याकल्पना कर लेते है। यह मिथ्याकल्पना कहीं पर स्वाभाविक एवं कहीं पर विवक्षाजनित होती है उदाहरणार्थ खड़ी वस्तु पड़ी हुई वस्तु से समान आयतनादि होने पर भी बड़ी प्रतीत होती है। इसी प्रकार उपभुक्त एवं विभक्त स्थान अनुपभुक्त एवं रिक्त की अपेक्षा बड़ा

१—स्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। सम्यगर्थनिर्णय: प्रमाणम्। यथार्थानुभव: प्रमा, तत्साधनञ्च प्रमाणम्। उदयनाचार्य:।
२—Truth & Novelty. ३—(Illusion)

मालुम पड़ता है। वस्तु के अन्तर के कारण भी कभी-कभी हमारी इन्द्रिया मिथ्या अनुभव करती हैं, इसका उत्तम उदाहरण 'मुलरल्येर भ्रम' है, जिसे कि आप बराबर की रेखा बनाकर तीर के चिन्ह समान एवं विपरीत दिशा में लगाकर, छोटा बड़ा स्वयं प्रतीत करेंगे। कभी २ एक ही वस्तु को अनेक प्रकार से दृष्टिगोचर कर, व्याख्या करते हैं। मति भ्रम भी अप्रमा या भ्रान्ति का एक अवयव है, जो कि काम-क्रोध-भयादिभावो से या वातादित्रिदोषो से उत्पन्न होता है जिसका कि चरक में महाव्याधि के नाम से सुन्दर निदर्शन किया गया है।

भ्रान्ति के विषय में नैयायिकों का कथन है कि भ्रान्ति विपर्यीमूलक होती है, विषयमूलक नहीं होती, उदाहरणार्थ—मृगमरीचिका में सूर्य की किरणों का सद्भाव विद्यमान है, स्पन्दनव्यापार भी यथार्थ होता है, अत: यहाँ पर अर्थ का व्यभिचार नहीं होता, किन्तु ज्ञान का व्यभिचार होता है। बौद्ध लोग मृगमरीचिका में उदक की कल्पना को सिद्ध करने के लिये असत्ख्यातिवाद मानते है और नैयायिक इस असत्ख्यातिवाद को अनुपयुक्त कहकर अन्यथाख्यातिवाद द्वारा सिद्ध करते है। वस्तुत: किसी वस्तु के गुणों का तद्गुणातिरिक्त अन्यवस्तु में कल्पना करना अन्यथाख्यातिवाद कहलाता है जैसे इन्द्रिय दोष के कारण मरीचिका में उदक के धर्मो का स्मरण होता है। इस उदक धर्मों का मानसिक ज्ञान होने के पश्चाद् जहाँ जहाँ जल की पूर्वानुभूति हुई है वहाँ वहाँ के जल का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा दृष्ट जल के गुणों का आरोप समीपवर्ती मृगमरीचिका में अन्यथाख्याति से कर दिया जाता है।

प्रमाणों के भेद—प्रमाणों की संख्या मानने में दार्शनिको में प्राय: मतान्तर है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान, सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द, नैयायिक प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्द, प्रभाकर प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द और अर्थापत्ति, भाट्ट तथा वेदान्ती प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द

अर्थापत्ति और अभाव, तथा पौराणिक प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द अर्थापत्ति अभाव सम्भव और ऐतिह्य प्रमाणों को मानते हैं ये ही प्रमाण अष्टविधप्रमाण कहलाते हैं। भगवान् पतञ्जलि ने उपर्युक्त प्रमाणों का स्थान-स्थान पर बहुत ही सुन्दर उल्लेख किया है यथा "द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधापरीक्षा आप्तोपदेशः प्रत्यक्ष मनुमानं युक्तिश्चेति।" पुनः रोग विशेष विज्ञानीय अध्याय में कहा है कि "त्रिविधं खलु रोग विशेष विज्ञानं भवति, तद् यथा– उपदेशः—प्रत्यक्षम्—अनुमानम्—चेति। पुनः भिषग्जितीय अध्याय में "द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च। त्रिविधा वा सहोपदेशेन – इति। इसके पश्चाद् ऐतिह्य तथा औपम्य का भी वर्णन मिलता है। वस्तुतः चरक में वैशेषिक तथा न्याय आदि दर्शनों की प्रधानता है विशेषतया वैशेषिक मतानुसार 'ज्ञानवतां प्रत्यक्षम्—अनुमानञ्च" तथा एक देशीय प्राचीन नैयायिकों के अनुसार 'त्रिविधा वा सहोपदेशेन' प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द का विस्तृत वर्णन किया है। सुश्रुत ने चार प्रमाणों का विधान किया है यथा— "तस्याङ्गवरमाद्यंप्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय"। यद्यपि सुश्रुत सांख्यदर्शनानुयायी है तथापि नव्यनैयायिकों के उपमान प्रमाण का स्पष्ट निर्देश किया है। सम्भव है कि सुश्रुतकाल में नैयायिकों का प्राबल्य हो जिसके कारण चतुर्विध प्रमाण का निर्देश हो। पाश्चात्य

१—प्रत्यक्षमेक श्चार्वाकाः कणाद सुगतौपुनः।
अनुमानञ्चतच्चाथ सांख्याः शब्दञ्च ते अपि॥
न्यायैक देशिनो प्येव मुपमानञ्च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्य युक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥ स० द० स०

२—दृष्ट मनुमान माप्तवचनञ्च सर्व प्रमाण सिद्धत्वाद।
त्रिविधं प्रमाण मिष्टं प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि॥ स० का०

वैज्ञानिक इस प्रमाण मीमांसा को 'इपीस्टेमोलोजी'[1] नामक शास्त्र में मनन करते है। वह प्रधानत: प्रत्यक्ष[2] तथा अनुमान[3] को ही स्वीकार करते हैं। क्वचित् अति गौण रूप से शब्दप्रमाण[4] तथा उपमानसादृश्यप्रमाण[5] का उल्लेख भी मिलता है।

सम्पूर्ण शास्त्रज्ञों ने निर्विवादतया प्रत्यक्ष[6] को स्वीकार किया है। चार्वाक प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को नहीं मानता है। चार्वाक का कथन यह है कि "विषय और इन्द्रिय का संयोग होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते है"। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्षीकृतपदार्थ सत् है। अस्पष्ट– अनास्वादित—अनाघ्रात—अदृष्ट और अश्रुत पदार्थ असत् हैं और इस असत् पदार्थ की कल्पना करना अनुचित है अत: अनुमान प्रमाण मानना भी व्यर्थ है। दूसरे लिङ्ग को देखकर लिङ्गी की सिद्धि या लिङ्गी को देखकर लिङ्ग की सिद्धि '(तल्लिङ्ग लिङ्गि पूर्वकम्) भी अनुमान है जैसे धूमरूप लिङ्ग से लिङ्गी वह्नि का अनुमान किया जाता है। यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि दृष्ट धूम से अदृष्ट वह्नि की सिद्धि में क्या प्रामाण्य है। यदि साहचर्य-नियम को (यत्र यत्र धूम स्तत्र तत्र वह्निः) आप प्रमाणित माने तो क्या यह सम्भव है कि जिन २ स्थानों में धूम तथा अग्नि विद्यमान हो उन सब का निरीक्षण किया जा सकता है ? इस प्रकार के असम्भवनीयव्याप्तिज्ञान को प्रमाण स्वरूप कैसे स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् विशिष्ट धूम का सम्बन्ध विशिष्टअग्नि के साथ देखकर धूमवह्निसंयोग को सर्वत्र

१—(Epestemology) २—(Perception)
३—(Inference) ४—(Verbal testimony)
५—(Analogy) ६—**घोर आचरण वादी** (Behaviowrist) **बाटसन ने मानस विज्ञान में प्रत्यक्षीकरण को स्वीकार नहीं किया किन्तु उसकेस्थान पर "प्रकाश के प्रति प्रतिक्रिया," शब्द के प्रति प्रतिक्रिया गन्ध के प्रति प्रतिक्रिया** (Response to light, Response to sound, Olfactory response) **आदि रूप में स्वीकार किया है।**

कल्पना करना निराधार है। यदि व्याप्ति ज्ञान की कल्पना विशेष के स्थान पर सामान्य में ही की जाय तो सिद्धसाधनदोष[1] प्राप्त होता है जैसे 'सम्पूर्ण मनुष्य मरणशील है' इस वाक्य में यदि व्याप्ति मनुष्यता तथा मरणशीलता के साहचर्य पर मान ले तो नवीन अनुमान के लिये स्थान नहीं रहता क्योंकि मरणशीलता व्याप्तिसूचक वाक्य में प्रथमत: ही निष्पन्न हो जाती है। अनुमान की सिद्धि कार्यकारण भाव द्वारा सिद्ध करने पर भी चार्वाक स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह स्वभाववादी[2] है।

प्रत्यक्ष का अर्थ—'अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्' यहाँ पर अक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय माना गया है। वैदिक, चार्वाक बौद्धादि दर्शन में भी यही अर्थ सम्मत है। केवल जैनदर्शन में अक्षपद से आत्मा का ग्रहण होता है अतएव उनके यहाँ 'इन्द्रियनिरपेक्ष आत्माश्रितज्ञान' प्रत्यक्ष पद से मुख्यत: ग्रहीत होता है। इन्द्रियाश्रित ज्ञान को परोक्ष या प्रत्यक्ष के गौण अर्थ में मानते है।

प्रत्यक्ष का लक्षण—दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष के लक्षण 'इन्द्रिय जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' 'विशदः प्रत्यक्षम्' 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' समान भावों को लेकर नाना प्रकार से किये हैं तथापि चरककार ने उत्कृष्ट लक्षण कहा है—"आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥ इस प्रत्यक्ष के पुनः मानस प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष दो भेद माने है यथा"—प्रत्यक्षं नाम तद् यदात्मना

१—विशेषेनुगमाभावः सामान्ये सिद्ध साध्यता।
अनुमापङ्कभङ्गेऽस्मिं निमग्ना वाददन्तिनः॥ का० द०

२—शिखिनश्चित्रयेत् को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्।
स्वभाव व्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥ सु० शा० ड० अ० १
प्रत्यक्षं तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्समानः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात् च० बि० ४

चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः इति"। इस इन्द्रिय जन्य ज्ञान के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक पुनः दो भेद होते है। जब दूरस्थ वस्तु का ज्ञान सर्व प्रथम होता है,उस समय उसकी सत्ता का केवल भान होता है जैसे स्थाणु तथा पुरुष का दूरस्थ चक्षुरिन्द्रिय जनितज्ञान। यह ज्ञान सामान्य बोधक होता है अर्थात् नाम जात्यादि कल्पना विरहित ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान मानते है। जब वस्तु के स्वरूप जाति गुण क्रिया तथा संज्ञा का ज्ञान विशिष्ट रुपतः होता है, तब इसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी प्रत्यक्ष के तीन अवयव दृश्यरूप कल्पनारूप एवं सम्बन्ध रूप माने हैं ये तीनों अवयव मिलकर प्राचीन दार्शनिकों के सन्निकर्ष में अन्तर्लीन हो जाते है। इन तीनों का प्रत्यक्ष से सम्बन्ध इस प्रकार है। यथा दृश्यरूप से विषय का ज्ञान होता है, कल्पनारूप में विषय से सम्बन्धित विषय का स्मरणादि किया जाता है, एवं सम्बन्धरूप में विषय का पूर्वसम्बन्धितस्मरणादि के साथ सहयोग किया जाता है अर्थात् वस्तु को कल्पना रूप में जब भी लाया जाता है तब उसे किसी अवस्था विशेष के साथ पूर्वगतप्रत्यक्षीकृत अवस्था में ही उपस्थित किया जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष—में हमें केवल वस्तु को सत्ता मात्र का ही भान होता है जैसे "रमा सितार बजा रही है" इस ज्ञान में निर्विकल्पक दृष्टि से सितार का नाद मात्र का ज्ञान निर्विकल्पक हो सकता है अतः पाश्चात्य वैज्ञानिकों के सम्मुख यह विवादग्रस्त विषय है कि 'ऐसा प्रत्यक्ष जीवन में सम्भवनीय है, या नहीं। सम्भवतः जीवन का सर्व प्रथम अनुभव ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो सकता है क्योंकि उस प्रत्यक्ष में पूर्वानुभवका पूर्ण रूप से अभाव हो सकता है। कुछ वैज्ञानिक इसमें भी विरोध प्रदर्शन कर, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ज्यामिति के

---

१. (Indeterminate) २. (Determinate)
३. (Presentation) ४. (Representation)
५. (Relational Aspect) ६. (Sensation)

विन्दु की भाँति केवल काल्पनिक सत्य मानते हैं। प्रत्यक्षज्ञान के प्रकारान्तर से भी लौकिक तथा अलौकिक दो भेद होते है। लौकिक-प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय द्वारा किया जाता है उसी इन्द्रिय की प्रधानता दी जाती है जैसे श्रावण—स्पार्शन—चाक्षुष—घ्राणज इत्यादि। चकरकार ने कहा है कि—

"या यदिन्द्रिय माश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा॥
भेदात्कार्येन्द्रियार्थानां बह्वयो वै बुद्धयः स्मृताः।
आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थाना मेकैक सन्निकर्षजाः॥
अङ्गुल्यङ्गुस्ठतलजस्तन्त्री वीणानखोद्भवः।
दृष्टः शब्दो यथा बुद्धि दृष्टा संयोगजा तथा॥

वस्तुतः ६ इन्द्रियो द्वारा शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध सुखदुःखादिका ग्रहण होता है। इन गुणों का गुणी (द्रव्य) के साथ अभेद होने के कारण छहो इन्द्रियों को द्रव्य ग्राहक भी अधिकांश दार्शनिक मानते है। किन्तु नैयायिक वैशेषिक और मीमांसक चक्षु त्वक्—तथा मन को ही द्रव्य ग्राहक मानते है शेष इन्द्रियों को (श्रोत्र रसन तथा घ्राणेन्द्रिय को) गुण ग्राहक मानते है।

सन्निकर्ष[२]—यह लौकिक तथा अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। लौकिकसन्निकर्ष के संयोग—संयुक्तसमवाय—संयुक्त समवेतसमवाय—समवाय—समवेतसमवाय—विशेषणविशेष्यभाव द्वारा

१—पाश्चात्य दार्शनिक प्रत्यक्ष ज्ञान की दो अवस्थायें मानते हैं प्रथम (Sensation) **तथा द्वितीय** (Perception) **किन्तु भारतीय दार्शनिक लौकिक सन्निकर्षज ज्ञान को निर्विकल्पक तथा लौकिक एवं अलौकिक उभय सन्निकर्षज ज्ञान को सविकल्पक साधारणतः स्वीकार करते है।**

२—विषयेन्द्रिय सम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः॥ ५९

६ भेद होते है। इन्द्रियों द्वारा द्रव्य के प्रत्यक्ष होने में संयोगसन्निकर्ष होता है यथा चक्षुरिन्द्रिय और द्रव्य के असम्बन्धित होने पर ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती है। द्रव्य के गुण का प्रत्यक्ष जब इन्द्रियों द्वारा होता है तब संयुक्तसमवायसम्बन्धमाना जाता है। द्रव्य में गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है और बिना द्रव्य प्रत्यक्ष हुये गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः संयुक्तसमवायसम्बन्ध को कारणता दी गयी है। गुणत्व का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेतसमवायसम्बन्ध द्वारा होता है क्योंकि गुण में सामान्य आदिक समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। शब्द का प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रियो द्वारा समवाय सम्बन्ध से होता है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रियरूप आकाश में शब्दगुण समवायसम्बन्ध से स्थित ही माना जाता है। गुण गुणी में सर्वदा समवाय सम्बन्ध से निहित रहता है। शब्दत्व के प्रत्यक्ष में समवेतसमवायसम्बन्ध चरितार्थ होता है क्योंकि शब्द तथा शब्दत्व में समवायसम्बन्ध ही माना जाता है। अभाव केप्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है।

अलौकिकसन्निकर्ष—यह अलौकिकसन्निकर्ष सामान्यलक्षण ज्ञान

द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः।
तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः॥ ६०
तद् वृत्तीनां समवेत समवायेन तु ग्रहः।
प्रत्यक्ष समवायस्य विशेषणतया भवेत्॥ ६१
विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत्।
यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते॥ ६२ ॥ मु० का०

१—मीमांसक मोक्षाङ्गभूत एक प्रकार के आत्म ज्ञान के अस्तित्व की कल्पना करते है जो कि योगजन्य या अलौकिक ही होता है। वेदान्त में ईश्वर साक्षी चैतन्य अलौकिक प्रत्यक्ष के तुल्य वर्णित है।

अलौकिक स्तु व्यापार स्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्य लक्षणो ज्ञान लक्षणो योगजस्तथः॥ मु० क० ६३

लक्षण और योगजसन्निकर्षों द्वारा तीन प्रकार का है। १—महानसादि में अग्नि के साथ जो धूम का सम्बन्ध होता है, वह धूम व्यभिचारी है कि नहीं, इस शङ्का का समाधान कैसे हो सकता है क्योंकि सकल धूमों का चाक्षुप ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव इस धूम में धूमत्व की सामान्यता प्रतिपादित कर सामान्यलक्षणसन्निकर्षद्वारा समस्त धूमों का प्रत्यक्ष करते हैं।

२—सुगन्धित पुष्पों के चाक्षुप प्रत्यक्ष हो जाने पर, उनके रमणीय रूपज्ञान के साथ गन्ध का भी चाक्षुप अनुभव होता है। इस प्रकार का चाक्षुप गन्ध ज्ञान ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष द्वारा ही सम्भव होता है।

३—योगजज्ञान[1] युक्त तथा युञ्जान भेद से दो प्रकार का माना जाता है। युक्तयोगियों को योगाभ्यासजन्ययुक्तनामक अलौकिक सन्निकर्ष और मन इन दोनों से आकाश परमाणवादि निखिल अतीन्द्रिय और अतीतादि विपयों का ज्ञान अनवरत होता है। युञ्जानयोगी को योगाभ्यास-जन्ययुञ्जाननामक अलौकिकसामर्थ्य, चिन्ताविशेष और मन इन तीनों से उक्त आकाशादि विषयों का ज्ञान होता है। सन्निकर्ष प्रकाश की उपस्थिति तथा उद्भूत रूप की सत्ता होने पर ही होता है अतएव नैया-यिकों ने चाक्षुप ज्ञान में आलोक[2] और उद्भूतरूप दोनों को भी कारणता प्रदान की है।

सांख्यमतावलम्बी निर्विकल्पकज्ञान का प्रत्यक्ष न कर, सवि-कल्पकज्ञान का ही प्रत्यक्ष करते है, अतएव वह अतिदूर[3], अति

१—योगजो द्विविधः प्रोक्तः युक्त युञ्जान भेदतः।
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्ता सहकृतोऽपरः॥ मु० का० ६५

२—गृह्णाति चक्षुः संयोगादालोकोद्भूत रूपयोः। मु० का० ६६

३—अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च॥ सा० का०

सामीप्य, इन्द्रियघात, मनोऽनवस्थान, सौक्ष्म्य, व्यवधान अभिभव और समानाभिहार को प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधक मानते है।

१—चरककार ने इन्द्रिय बाधक ज्ञान का विस्तृत विवेचन किया है।

असंस्पर्शोऽति संस्पर्शो हीन संस्पर्श एवच।
स्पृश्यानां संग्रहेणोक्तः स्पर्शनेन्द्रिय बाधकः॥
यो भूत विषवाताना मकालेनागतश्चयः।
स्नेह शीतोष्ण संस्पर्शो मिथ्या ज्ञानञ्च उच्यते।
अत्युग्र शब्द श्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशो न च।
शब्दानाञ्चाति हीनानां भवन्ति श्रवणाज्जड़ाः॥
पुरुषोद्भीषणा शस्ता प्रियव्यसनसूचकैः।
शब्दैः श्रवण संयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते॥
रूपाणां भास्वतां दृष्टि विनश्यतिहि दर्शनात्।
दर्शनाच्चति सूक्ष्माणां सर्वशश्चात्यदर्शनात्॥
द्विष्ट भैरवबीभत्स दूरातिक्लिष्ट दर्शनात्।
तामासानाञ्च रूपाणां मिथ्या संयोग उच्यते॥
अत्यादान मनादान मोक सात्म्यादिभिश्च यत्।
रसानां विषमादान मल्पादानञ्च दूषणम्॥
अति मृद्वति तीक्ष्णानां गन्धानामुपसेवनम्।
असेवनं सर्वशश्च घ्राणेन्द्रिय विनाशनम्॥
पूति भूत विषद्विष्टा गन्धाये चाप्य नार्तवाः।
तैर्गन्धै घ्राण संयोगो मिथ्या योगः स उच्यते॥
इत्यसात्म्यार्थ संयोगस्त्रिविधो दोषकोपणः।
असात्म्यमिति तं विद्यात् यन्न याति सहात्मताम्॥च०शा०अ० १

वस्तुतः ज्ञान और स्वास्थ्य के लिये समयोग को ही श्रेष्ठ माना है। अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग, अज्ञान और रोग के कारण होते हैं।

प्रत्यक्षत्व का नियामक—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसक तथा आयुर्वेदादिदर्शन में सन्निकर्षजन्यत्व माना गया है। शाङ्कर वेदान्ती प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य के अभेद को प्रत्यक्षत्व का नियामक स्वीकार करते हैं।

अनुमान प्रमाण—चार्वाकातिरिक्त सम्पूर्ण दार्शनिकों ने अनुमान प्रमाण स्वीकार किया है। वैशेषिक तथा कुछ नव्य[२] नैयायिक दो ही प्रमाण मानते हैं। कुछ वैशेषिको ने (आचार्य हेमचन्द्र तथा सिद्धर्षि) तीन प्रमाण भी माने हैं। रत्नाकर में वादिदेव ने भी द्वित्व तथा त्रित्व प्रमाणों का स्पष्टीकरण किया है। जैन आचार्यों ने प्रमाणों का विभजन प्रत्यक्ष तथा परोक्ष नाम से किया है। परोक्ष के पुनः अनुमान प्रत्यभिज्ञान, स्मरण तर्क और आगम पाँच भेद किये है, अतएव अनुमान प्रमाण जैन आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

अनुमान का अर्थ अनुमान[३] शब्द अनुमिति और अनुमितिकरण अर्थों में प्रयुक्त होता है। भाववाची होने पर अनुमिति तथा करणवाची होने पर अनुमितिकरण का बोध कराता है। वस्तुतः ज्ञानोत्तर जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते है अर्थात् अनुमान ज्ञान के मूल में प्रत्यक्षज्ञान निहित होता है। प्रारम्भ में वैशेषिक और मीमांसक

१— मिथ्यातिहीन योगेभ्यो यो व्याधि रुप जायते।
शब्दादीनां सविज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियकोबुधैः॥
वेदनानामशातानाम् इत्येते हेतवः स्मृताः।
सुख हेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः॥ च० शा० अ० १

२—शब्दोपमानयो नैवं पृथक् प्रामाण्य मिष्यते।
अनुमान गतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम्॥ मु० का० १४०

३—अनु पश्चाद् मीयते ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्तु तत्वं येन तदनुमानम्।

प्रत्यक्षतोदृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट दो भेद मानते थे, पश्चात् भगवान् पतञ्जलि ने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट तीन भेद किये, जिसे कि सांख्य³ तथा नैयायिकों ने भी इसी रूप में ग्रहण कर लिया। लिङ्ग तथा लिङ्गी मूलक व्याप्ति के दो प्रकार होने से भी दो भेद और मान लिये जाते है। अनुमान जब अपने लिये किया जाता है तब उसे स्वार्थानुमान, और जब किसी अन्य के लिये किया जाय तब उसे परार्थानुमान भी कहते हैं। भगवान् चरककार ने अनुमान का लक्षण निम्न प्रकार से कहा है—

"प्रत्यक्ष पूर्वं त्रिविधं त्रिकालञ्चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्॥
एवं व्यवस्यन्ततीतं बीजात्फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः॥ च. सू. अ. ११

उपाध्याय गङ्गेश ने "सम्यगविना भावेन परोक्षानुभवसाधन मनुमानम" सुन्दर तथा सरल लक्षण किया है।

अनुमानक्रम—वस्तुतः अनुमान ज्ञान का क्रम⁴ यह है कि कोई

१—तत्तु द्विविधं प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं सामान्यतोदृष्टसम्बन्धञ्च॥

२—तत्तु द्विविधं-दृष्टं सामान्यतोदृष्टञ्च। प्रशस्तपादभाष्य, शाबर भाष्य।

३—त्रिविधमनुमान माख्यातम्। सा० का०

४—सिषाधयिषाशून्यासिद्धिर्यत्र न विद्यते।
सपक्षस्तत्रवृत्तित्व ज्ञानादनुमितिर्भवेत॥ मु० का० ७०

साध्य के निश्चय करने की इच्छा 'सिषाधयिषा' कहलाती है। इस सिषाधयिषा रहित सिद्धि के अभावात्मक आश्रय को पक्ष कहते हैं। इस पक्ष में वृत्तित्व ज्ञान द्वारा (व्याप्ति विशिष्टहेतुवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान-रूपीपरामर्श से) अनुमान किया जाता है। अन्नंभट्ट ने संदिग्ध साध्य के आश्रय को पक्ष माना है (संदिग्ध साध्यवान् पक्षः)। अन्नंभट्ट का कहना है कि यदि साध्य की सत्ता का ज्ञान हमें प्रथम ही से हो तो अनुमान की आवश्यकता ही न होगी। किन्तु नव्य नैयायिकों का कहना

पुरुष महानसादिस्थलों में धूम में वह्नि का साहचर्यनियमरूपव्याप्ति ज्ञान (अविनाभावसम्बन्ध) कर चुका है वही पुरुष किसी पर्वत में अविच्छिन्न धूमरेखा को देखता है तब उसे धूम वह्निव्याप्य है, इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके पश्चाद् अग्निव्याप्यधूमवालापर्वत यह है इस प्रकार के परामर्श होने पर पर्वत अग्नि वाला है इस प्रकार के सम्यक् ज्ञान को अनुमान कहते है। जिस वस्तु के पक्ष में सिद्धि की जाती है वह साध्य या व्यापक कहलाता है। जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे साधन, हेतु, लिङ्ग, या व्याप्य कहते है जैसे—'धूमो वह्निव्याप्यः' यहाँ पर धूम अग्नि का व्याप्य तथा अग्नि व्यापक है क्योंकि धूम सर्वत्र अग्नि में स्थित ही प्राप्त होगा किन्तु अग्नि तदितर स्थानों में भी प्राप्त होती है अतएव व्याप्य से व्यापक का अनुमान ही न्यायसंगत है, व्यापकद्वारा व्याप्य का अनुमान उचित नहीं है, तथापि सांख्यशास्त्र में व्यापकद्वारा व्याप्य के अनुमान करने का भी निर्देश किया गया है।

अनुमानभेद—कारण की उत्पत्ति पर कार्य की कल्पना करना जैसे मेघों से परिपूर्ण आकाश मण्डल को देखकर वृष्टि का अनुमान पूर्ववत् कहलाता है। कार्य द्वारा कारण की कल्पना जैसे वर्द्धित नदी को देखकर वर्षा का अनुमान शेषवत् माना जाता है। कुछ आचार्य अन्वय मुख से प्रवृत्त होनेवाले अनुमान को पूर्ववत् तथा व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होनेवाले ज्ञान को शेषवत् मानते है। परिशेषानुमान भी शेषवत् का उदाहरण है। सामान्यमात्रदर्शन सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। यह उस स्थान पर होता है जहाँ वस्तुविशेष की सत्ता का अनुभव न होकर सामान्य रूप का परिचय हो जैसे इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान इत्यादि। परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्य 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय निगमन'

है कि पूर्व का ज्ञान अनुमान ज्ञान का बाधक नहीं होता यदि अनुमन्ता की साध्य—साधन की इच्छा तादृश ज्ञान सिद्धि में प्रवर्तित हो।

१—तल्लिङ्ग लिङ्गि पूर्वकम्। सां० का०

का न्यायमत से प्रयोग करना आवश्यक माना गया है। वेदांती तथा मीमांसक इन पञ्चावयववाक्यों में से आदि के तीन या अंत के तीन वाक्यों को ही पर्याप्त मानते है।

पञ्चावयववाक्य[1]—सिद्ध किये जानेवाले साध्य वस्तु का उल्लेख—प्रतिज्ञा[2] पद से होता है। अनुमान को सिद्ध करनेवाले कारणत्व का निर्देश 'हेतु[3]' पद से किया जाता है। हेतु और साध्य के नियतसाहचर्य का निर्देश 'उदाहरण' या 'दृष्टान्त[4]' पद से होता है। व्याप्ति विशिष्टपक्ष का बोध 'उपनय' द्वारा किया जाता है। तदनन्तर अनुमान के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि की जाती है, वह 'निगमन' कहलाता है। जैसे[5] पर्वत अग्नि युक्त है यह प्रतिज्ञा है। धूम की उपस्थिति होने से, यह हेतु है। जो जो धूम युक्त होता है, सों सों अग्नि युक्त भी होता है, यह उदाहरण है। तैसा यह है, यह 'उपनय' है। तिससे यह ऐसा ही है, यह निगमन है।

व्याप्ति[6]—अनुमानप्रमाण में व्याप्ति का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। हेतु

१—वात्स्यायन ने पञ्चावयववाक्यातिरिक्त, जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन, संशयव्युदास, पाच वाक्यो को अधिक मानने वाले नैयायिको का उल्लेख भी किया है। भाष्यकार के मत में ये अनुमान के लिये अनुपयोगी है किन्तु सिद्धि में सहायक हो सकते हैं।

२—प्रतिज्ञानाम साध्यवचनं यथा नित्यः पुरुषः।

३—हेतुर्नामोपलब्धिकरणं तत्प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमित्येभिर्हेतुभिर्य दुपलभ्यते तत्तत्वम्। च० वि० अ० ८

४—दृष्टान्तो नाम स यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं तेनैव यो वर्ण्यं वर्णयतीति। यथाग्निरुष्णो द्रवमुदकं स्थिरा पृथ्वी आदित्यः प्रकाशकः इति यथा आदित्यः प्रकाशकः तथा सांख्यं ज्ञानं प्रकाशकमिति। च०वि०अ० ८

५—पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वाद्, योयो धूमवान् ससोऽग्निवान् यथा महानसम् तथा चायं तस्मात्तथेति। तर्क संग्रह ॥

६—हेतुसाध्ययोरनौपाधिको नियतः सम्बन्धो व्याप्तिः। व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते व्याप्तिः। च० वि० अ०

तथा साध्य के नियतसाहचर्यसम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। उदाहरणार्थ 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ वह्नि है' इस साहचर्य नियम की सत्ता सर्वत्रैव विद्यमान् है अतएव धूम तथा वह्नि की व्याप्ति न्यायसंगत मानी गयी है। प्राचीनदार्शनिक अविनाभावसम्बन्धद्वारा व्याप्ति मानते थे। यह व्याप्ति धूम द्वारा वह्नि में स्थापित की जाती है, किन्तु वह्नि द्वारा धूम में सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि सर्वत्र वह्नि में धूम की प्राप्ति नहीं होती जैसे तप्तगोलक, विद्युदादि। यह धूम आर्द्रेन्धन संयोग से उत्पन्न होता है। इस आर्द्रेन्धन संयोग को उपाधि कहते हैं। अतएव हेतु और साध्य के अनौपाधिक नियत सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्तितत्व का यथार्थपरीक्षण अन्वय, व्यतिरेक, व्यभिचारग्रह उपाधिनिरास, तर्क और सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति द्वारा करते है।

अन्वय—एक वस्तु की सत्ता होने पर दूसरे की सत्ता। (तत्सत्वे तत्सत्ता) अन्वय है, जैसे वह्नि की सत्ता होने पर धूम की सत्ता व्यतिरेक—एक वस्तु के अभाव होने पर दूसरी वस्तु का अभाव (तदभावे तदभाव:) व्यतिरेक है जैसे वह्नि के अभाव में धूम का अभाव।

व्यभिचारग्रह—अन्वय तथा व्यतिरेक के दूषित होने पर अति व्याप्ति अव्याप्ति तथा असम्भव दोषत्रय उत्पन्न होते हैं इसे ही व्यभिचारग्रह कहते हैं। आर्द्रेन्धन संयोग आदि उपाधि माने गये हैं।

तर्क—इसका उल्लेख जैनप्रक्रिया में प्रमाणरूप से, किन्तु अन्य दर्शन कारो ने इसे 'विचारात्मक ज्ञान का व्यापारस्वरूप माना है। तर्क का दूसरा पर्याय ऊह है! इसका अर्थ प्रमाणानुकूलमनोव्यापार मात्र है। यह व्याप्तिज्ञान में बाधक होनेवाली अप्रयोजकत्व शङ्का को निरस्त करनेवाला, व्याप्यारोपपूर्वक व्यापकका आरोपस्वरूप आहार्यज्ञान मात्र माना गया है। यह व्यभिचारशङ्का को हटाकर व्याप्तिनिर्णय में सहकारी

१—व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। अन्नंभट्ट। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। गौ० सू०। कार्यकारण भाविमूलस्तर्कः, तर्कभाषा। अनुमानं नाम खलु तर्को युक्त्यपेक्षः, यथोक्तम्—अग्निं जरणशक्त्या बलं व्यायाम शक्त्या श्रोत्रादीनि शब्द ग्रहणेनेति। च०वि०

या उपयोगी हो सकता है। वस्तुतः प्राचीन समय से ही दर्शनों में तर्क का स्थान प्रमाण कोटि में नहीं आता है। चरककार ने इसे वैज्ञानिकता से परीक्षणविधि विशेष कहा है। प्राचीन नैयायिकों ने इसके ११ भेद तथा नव्य नैयायिकों ने (आत्माश्रय, अन्योऽयाश्रय, चक्रक, अनवस्था, तदन्यबाधितार्थप्रसङ्ग) पाँच भेद किये हैं।

हेतु—हेतु द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती है। हेतु में जब पक्ष में रहना, सपक्ष में रहना, विपक्ष में न रहना, साध्य से विपरीतार्थ सिद्धि के लिये अन्य हेतु का अभाव (असत् प्रतिपक्षत्व), प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित न होना, यह पाँच गुण विद्यमान होते हैं तब उसे सद् हेतु कहते हैं। जब इनमें किसी में त्रुटि होती है तब उसे असद् हेतु या हेत्वाभास कहते हैं। यह भी सव्यभिचार (अनैकान्तिक), विरुद्ध, प्रकरण-सम (सत्प्रतिपक्ष), साध्यसम (असिद्ध), कालातीत (बाधित), भेदों से पाँच प्रकार के माने गये हैं।

उपमान—उपमानप्रमाण के विषय में बहुत ही मतमतान्तर है। चार्वाक उपमान का अस्तित्व ही नहीं मानता है। वैशेषिक अनुमाना-

---

१—"तृप्लवनतरणयोः" इतिधात्वर्थकृतेतर्क्यन्तेप्रतिपाद्यन्तेसत्यासत्यौ-येनतत्तर्कम्। "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्व—ज्ञानार्थ मूहस्तर्कः"

२—जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात्सस्यसंभवः। युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भवस्तथा ॥ मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसम्भवः। युक्ति युक्ताचतुस्पादसम्पद्व्याधिनिवर्हणी ॥ बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्। युक्तिस्त्रिकालासाज्ञेया त्रिवर्गः साध्यतेयया। एषा परीक्षानास्त्यन्या यया सर्वंपरीक्ष्यते। परीक्ष्यंसदसच्चैव तथा चास्तिपुनर्भवः ॥ चरक

३—अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तुपञ्चधा ॥
आद्यः साधारणस्तुस्यादसाधारणकोऽपरः।
तथैवानुपसंहारी त्रिधानैकान्तिको भवेत् ॥ का० ७१७ ७२

न्तर्गत मानते हैं। सांख्यवाले उपमान को शब्द तथा प्रत्यक्ष की आंशिकस्थितिस्वरूप स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन उपमान को प्रत्यभिज्ञा "इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्मरण के बाद एक संकलनात्मक विजातीयमानसज्ञान पैदा होता है जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं" मानता है, जो कि परोक्षज्ञानान्तर्गत है। मीमांसक तथा वेदान्ती उपमान प्रमाण को मानते हैं, तथापि उनकी कल्पना नैयायिकों से भिन्न है। नैयायिकों ने उपमान में प्रामाण्य, बहुत सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किया है, जैसे—प्रथम अनुभूतपदार्थ के साथ सादृश्यधारण करनेवाले नूतनपदार्थ का जब ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे उपमान कहते हैं, जैसे कि "गौ के समान ही नीलगांय होती है" इस वाक्य के श्रवणानन्तर जंगल में जानेवाला पुरुष जब गौ के समान अन्य पशु को देखता है तब उसे नीलगांय का ज्ञान हो जाता है। चरककार ने भी अन्यवस्तु के सादृश्यद्वारा अन्यवस्तु के बोध को उपमान कहा है।

शब्दप्रमाण—इस प्रमाण में भी दो मत है। चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि नास्तिक दर्शनकार शब्दप्रमाण को प्रत्यक्ष तथा अनुमानातिरिक्त नहीं मानते। न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, तथा उत्तरमीमांसा के प्रकाण्डविद्वानो ने प्रत्यक्ष तथा अनुमानातिरिक्त शब्दप्रमाण को भी स्वीकार किया है। आस्तिक दर्शनों में वेदप्रामाण्यवादी न्यायवैशेषिक दर्शनकारो ने वेद का प्रामाण्य ईश्वरमूलक मानकर, वेद का प्रामाण्य परत: स्थापित किया है। मीमांसको ने अनीश्वर वादी होने के कारण वेदप्रामाण्य स्वत: मान लिया है। वस्तुत: अपरोक्षार्थक शब्द का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आजाता है, जिसमें कि किसी को

१—भासर्वज्ञ नामक नैयायिकोंने इसे पृथक न मानकर शब्दान्तर्गत माना है अतएव कुछ नैयायिक भी इसे पृथक प्रमाण नहीं मानते हैं।

२—औपम्यंनाम तद्यदन्येनान्यास्यसादृश्यमधिकृत्यप्रकाशनम् यथा दण्डेनदण्डकस्य, धनुषाधनु:स्तम्भस्य, इस्वासिनारोग्यदस्येति। च० वि० अ० ८

विप्रतिपत्ति नहीं है किन्तु परोक्षार्थक शब्द का समर्थन प्रत्यक्ष में समावेश नहीं हो सकता है। इस परोक्षार्थक शब्द का प्रामाण्य शब्द प्रमाण द्वारा स्वतन्त्रतया स्वीकार किया गया है। वैशेषिकआदि आचार्य इस परोक्षार्थकशब्द का प्रामाण्य अनुमान द्वारा ही मानते हैं। वस्तुतः शब्द-प्रमाण को वहीं पर चरितार्थता प्राप्त है, जहाँ पर, प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा ज्ञानप्राप्ति न हो सके, अर्थात् यज्ञादिक तथा स्वर्गादिक की सिद्धि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण द्वारा नहीं हो सकती है, अतएव इसे सिद्धि करने के हेतु शब्दप्रमाण को मानना पड़ता है। अक्षपाद ने भी वेदों में प्रामाण्य शब्दप्रमाण द्वारा ही प्रतिपादित किया है। दृष्टान्त में उनका कहना यह है कि वेद के एक अंश मन्त्रायुर्वेद आदि यथार्थ होने से प्रमाण है, वैसे शेष अंश भी ऋषि प्रणीत होने के कारण प्रमाण स्वरूप है। चरक न्याय तथा सांख्य में शब्द प्रमाण का लक्षण एक ही प्रकार से किया गया है अर्थात् आँप्तो द्वारा उपदेशित वाक्य प्रमाण है। यथार्थ वक्ता ही आप्तमाना जाता है। वस्तुतः आप्त वाक्य में पदज्ञान के उपरान्त शक्ति-ज्ञानजन्य पदार्थोपस्थिति द्वारा शब्दबोधरूप फल प्राप्त होता है जिसे शब्दप्रमाण कहते हैं अर्थात् शब्द बोध के प्रति पदज्ञान करण, पदार्थ-ज्ञान व्यापार, पदऔरअर्थ इन दोनों में शक्ति रूप जो विशेषसम्बन्ध,

---

१—**सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।**

तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥ सां० का०

२—**मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यं, आप्तप्रामाण्यात्।** अ० भा०

३—रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपो ज्ञान बलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताशिस्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मा न्नीरजस्तमसोमृषा॥ चरक०

आप्तोपदेशःशब्दः। त० स०। आप्त वाक्यानां प्रमाणम्—च०
तत्रोपदेशो नामाप्तवचनम्। आप्ताह्यवितर्क स्मृतिविभागविदो

इसका ज्ञान सहकारी कारण है, इनसे शाब्दबोधरूपफल प्राप्त होता है, जिसे कि शब्दप्रमाण कहते हैं। मीमांसकों ने आप्तवाक्य (पौरुषेय) तथाश्रुतिमूलक * (अपौरुषेय) भेद से वाक्यों को दो प्रकार का माना है इसके पुनः सिद्धार्थक तथा विधायक वाक्य द्वारा दो भेद होते हैं। पदार्थ की सत्ता प्रदर्शित करनेवाले वाक्य को सिद्धार्थकवाक्य तथा यज्ञादिक अनुष्ठान के प्रेरक वाक्य को विधायकवाक्य कहते हैं।

भावना—* इस वैदिक वाक्य के विवेचनार्थ भावना का आश्रय लेते हैं यथा "यजेत स्वर्ग कामः" यहाँ पर यजेत में दो अंश माने जाते हैं। एक यजि धातु दूसरा तिङ् प्रत्यय। तिङ् प्रत्यय के भी दो भाग होते हैं एक आख्यातार्थ दूसरा लिङ्त्व। आख्यातार्थ दसों लकारों का बोध कराता है तथा लिङ्त्व से लिङ्लकार का ग्रहण होता है भावना का लक्षण "भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः" अर्थात् उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल, या उत्पादक का व्यापारविशेष अर्थ किया जाता है। वस्तुतः वेद के शब्दों को सुनकर क्रियानुष्ठानार्थ प्रेरणा उत्पन्न होती है, जिसे कि भावना कहते हैं। जर्मनी दार्शनिक कैण्ट ने भी भावना को शुद्ध प्रेरणा (कैटेगारिकल इम्परेटिव) के रूप में माना है। इसके शाब्दी तथा आर्थी द्वारा दो भेद होते हैं।

निरुपीत्युपतापदर्शिनः। तेषामेवंगुणयोगद् यद्वचनं तत् प्रमाणम् इति—च० वि० अ० ४

१—पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।

शाब्दबोधः फलंतत्र शक्ति धीः सहकारिणी—मु० का०

२—मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते किन्तु धर्म को प्राधान्य रूप से स्वीकार करते हैं, अतएव धर्म का प्रतिपादन करनेवाला वेद अपौरुषेय तथा नित्य है। इन वैदिकवाक्यों में विशेष प्रकार की प्रेरणा संनिहित रहती है जिसे कि भावना कहते हैं।

शाब्दीभावना—पुरुष के प्रवृत्त्यनुकूल प्रेरकका व्यापारविशेष शाब्दी भावना (तत्र पुरुषप्रवृत्यनुकूलभावयितुर्व्यापार विशेष: शाब्दीभावना) कहलाता है। इसका विधान लिङ् और कहीं २ पर लेट् द्वारा किया जाता है लौकिक वाक्य में व्यापारविशेष पुरुषनिष्ठअभिप्रायविशेष माना जाता है। वैदिकवाक्य में पुरुषाभाव होने से लिङादिशब्द निष्ठ माना जाता है, इसे ही शाब्दीभावना कहते हैं। यह शाब्दी भावना साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता द्वारा तीन भागों में पूर्ण होती है।

आर्थीभावना—प्रयोजनेच्छाद्वारा उत्पन्नक्रिया का विषयव्यापार ही आर्थी भावना (प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषय व्यापार आर्थी भावना) कहलाता है। यह आख्यात अंश से समन्वित होती है जो कि आख्यात अंश, दसोलकारो में सामान्यव्यापारवाचि गुणवाला है। यह भी साध्य, साधन, इतिकर्तव्यतारूप अंशत्रय युक्त मानी जाती है।

विधिमीमांसा—समस्त वेद के विषय को विधि, मन्त्र, नामधेय निषेध और अर्थवाद, इन पाँच भागों में विभक्त करते हैं। अज्ञात अर्थ के ज्ञापकवेदभाग को विधिवाक्य (तत्राज्ञातार्थ ज्ञापको वेदभागोविधि: यथा स्वर्गकामोयजेत) कहते हैं। येह विधिवाक्य उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकार विधि और प्रयोगविधि द्वारा चार भागों में विभक्त होते है। कर्म के स्वरूप मात्र को बताने वाली विधि उत्पत्ति विधि (कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधि: यथा अग्नि होत्रं जुहोतीति) होती है। अङ्गप्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध बोधक विधिको विनियोग विधि (अङ्गप्रधानसंबन्धबोधकोविधि: यथादध्ना जुहोतीत) कहते हैं। इस विनियोगविधि के सहकारीभूत श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ६ प्रमाण माने गये हैं।

श्रुति—प्रमाणान्तर निरपेक्ष शब्द श्रुति कहलाता है यह विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री भेद से तीन प्रकार होते हैं। विधात्री लिङ् लेट द्वारा उत्पन्न होती है। व्रीह्यादि द्वारा अभिधात्री का वोध होता है

और विनियोक्त्रीश्रुति—विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा,द्वारा पुन: तीन भागो में विभक्त होती है।

लिङ्ग—शब्द सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं "सामर्थ्य सर्वशब्दानां लिङ्ग मित्यभिधीयते" यथा वर्हिदेव सदनं दामि-इति।

वाक्य—शेष-शेषि वाचकपदो का एक साथ उच्चारण वाक्य कहलाता है (समभिव्याहारो वाक्यम्—यथा—यस्प पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापꣳश्लोकं श्टणोतीति)।

प्रकरण—उपकार्या कांक्षा तथा उपकारका कांक्षा प्रकरण कहलाता है। यथा "समिधो यजति" यहाँ पर 'क्यों' इस प्रकार की उपकार्याकांक्षा रहती है। "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग भावयेद्" इस प्रकार के ज्ञानोत्तर यह प्रश्न होता है कि 'कैसे' इसे उपकारकाकांक्षा कहते हैं। यह प्रकरण—प्रधान तथा गौड़ भेद से महाप्रकरण तथा अवान्तरप्रकरण में विभक्त होता है।

संदंश—महाप्रकरण में विधीयमानअङ्ग यदि दूसरे स्थान पर विधायक होतो उसे संदंश कहते हैं (परप्रकरणस्थानामङ्गे श्रुत्यादिभिस्त्रिभि:। ज्ञाते पुनश्च तैरेव संदंशेन तदिष्यते)।

स्थान—देशसामान्य ही स्थान या क्रम कहलाता है। इसके पाठ सादेश्य तथा अनुष्ठानसादेश्य दो भाग किये जाते हैं। पाठसादेश्य के यथासंख्यपाठ और संनिधिपाठ नामक दो भेद होते हैं। यथा संख्य का उदाहरण—"ऐन्द्राग्नमेकादशकपालंनिर्वपेत्" "वैश्वानरं द्वादशकापलंनिर्वपेत् इति। संनिधिपाठ का उदाहरण "वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निवपेद् ग्रामकाम:" यहाँ पर कामेष्टियाग के समीप आमन होम का विधान है। अनुष्ठानसादेश्य का उदाहरण कुशकंण्डि का इत्यादि है।

समाख्या—यौगिकशब्द को समाख्या कहते हैं। यह वैदिकी (होतृचमस) और लौकिकी (आध्वर्यव) दो प्रकार की होती है। यह षड् प्रमाण क्रमश: पूर्व-पूर्व वली या उत्तरोत्तर न्यून बली हो जाते

है। इन षड् प्रमाणों से निर्णीत विनियोगविधि के सिद्धरूप और क्रियारूप दो प्रकार हो जाते हैं।

प्रयोगविधि—प्रयोग के भावों को शीघ्र बोधकरानेवाली विधि को प्रयोगविधि कहते हैं, अथवा अङ्गों के पूर्वापररूपी क्रमसूचक विधि को प्रयोग विधि कहते हैं। क्रम का अर्थ यहाँ पर विस्तारविशेष से है, या पौर्वापर्यरूपसम्बन्धविशेष समझना चाहिये। यदि क्रम निर्देश न होतो किस कार्य के बाद क्या करना चाहिये, और क्या नहीं करना चाहिये, इसका ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रयोग विधि में भी श्रुतिक्रम, अर्थक्रम, पाठक्रम, स्थानक्रम, मुख्यक्रम, प्रवृत्तिक्रम, षड् प्रमाण माने गये हैं।

श्रुतिक्रम क्रमयुक्तवचन ही श्रुतिक्रम कहलाता है। यह केवल क्रमपर तथा विशिष्टपदार्थपर भेद से दो प्रकार का होता है। केवल क्रमपर का उदाहरण "वेदं कृत्वा वेदिं करोति" है। विशिष्टपदार्थ पर का उदाहरण "वषटकर्तुः प्रथमभक्ष" दिया गया है।

अर्थक्रम—प्रयोजन के अधीन होकर जो क्रम निश्चित किया जाता है उसे अर्थक्रम कहते हैं जैसे 'अग्नि होत्रं जुहोति' 'यवागू पचति' यहाँ पर अग्निहोतृ में प्रथम यवागू का पाक किया जाता है तदनन्तर यवागू द्वारा हवन किया जाता है।

पाठक्रम– पदार्थबोधकवाक्यक्रम को पाठक्रम कहते हैं यह मन्त्र पाठ तथा ब्राह्मणपाठ भेद से दो प्रकार का होता है। यज्ञादिमे प्रथम मन्त्रपाठ ही होता है क्योंकि मन्त्रभाग ब्राह्मणभाग से बलवान् है। दूसरे मन्त्रभाग अन्तरङ्ग माना जाता है जबकि ब्राह्मण भाग बहिरङ्ग की सत्ता रखता है, इसके अतिरिक्त यागादि में मन्त्रभाग के अभाव में ही प्राय: ब्राह्मणभाग गृहीत किया जाता है।

स्थानक्रम—उपस्थिति को स्थान कहते हैं अर्थात् जब कोई अनुष्ठान किया जाता है उस समय के प्रथम अनुष्ठानोत्तर जो क्रम प्राप्त होता है उसे स्थानक्रम कहते हैं। वस्तुत: उपस्थितिविशेष द्वारा जो

अनुष्ठान का पौर्वापर है वही स्थान क्रम कहलाता है जैसे "वाश्विन ग्रहं कृत्वात्रिवृतायूपंपरिवीयआग्नेयंसवनीयंपशुमुपाकरोति" इति ।

मुख्यक्रम—प्रधानपौर्वापर द्वारा जो अङ्गों का क्रम होता है उसे मुख्य क्रम कहते हैं ।

प्रवृत्तिक्रम—एक साथ उपस्थित बहुत से प्रधानवाक्यों पर अङ्गों की उपस्थिति के विचार के साथ द्वितीयादि पदार्थो की क्रिया रोककर प्रथमपदार्थ का अनुष्ठान आद्यक्रम या प्रवृत्तिक्रम कहलाता है ।

अधिकारविधि—कर्म जन्य फल की भोक्तृत्वविधि को अधिकार विधि कहते हैं 'यजेत स्वर्गकाम:' "अहरह:सन्ध्यामुपासीत" ।

मन्त्रमीमांसा—प्रयोग के समवेत अर्थ का स्मारक मन्त्र होता है । नियम बिधि के आश्रय द्वारा मन्त्रो से स्मरणीयज्ञान होता है । इस प्रकार अर्थ के स्मारक होने से अर्थवत्व प्रधान मानते है । इसमें भी नियमविधि और परिसंख्याविधि का ज्ञान अनिवार्य है ।

नियमविधि—नाना साधनो द्वारा साधित क्रिया में एक साधन प्राप्त होने पर अप्राप्त दूसरे साधन को पहुँचानेवाली विधि नियमविधि कहलाती है । कहा भी है "विधिरत्यन्तमप्राप्तौनियम: पाक्षिके सति । तत्रचान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते" ।। अर्थात् पक्ष में प्रमाणान्तर से अप्राप्त विधि की प्रापकविधि नियमविधि कहलाती है जैसे व्रीहीनवहन्ति' ।

परिसंख्याविधि—दो विधियों के एक साथ प्राप्त होने पर एक विधि की व्यावृत्तिपरकविधि परिसंख्याबिधि कहलाती है जैसे 'पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या: यहाँ पर पञ्चनखभक्षण रागत: ही प्राप्त है, अतएव इस वाक्य से अपञ्चनखभक्षण की व्यावृत्ति हो जाती है । इस परिसंख्याविधि में श्रुतिहानि, अश्रुत कल्पना, और प्राप्तवाध तीन दोष होते हैं "श्रुतार्थस्यपरित्यागात्—अश्रुतार्थ प्रकल्पनम् । प्राप्तस्य वाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा इति ।

अर्थापत्ति[1]—जिसके द्वारा अर्थ की उपपत्ति न हो सके उसे अर्थापत्ति कहते हैं अर्थात् किसी अर्थ ज्ञान का अर्थान्तर बिना किये अनुपपत्ति देखकर अर्थ की उपपत्ति के लिये जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं जैसे 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' यहां पर पीनता बिना भोजन के सम्भव नहीं है अतएव देवदत्त रात्रि में भोजन करता है यह सिद्ध होता है। इस अर्थापत्ति के दो भेद माने जाते हैं, प्रथम दृष्टार्थापत्ति तथा द्वितीय श्रुतार्थापत्ति।

दृष्टार्थापत्ति—देखी हुई वस्तु की सिद्धि के लिये अर्थान्तर की कल्पना दृष्टार्थापत्ति कहलाती है जैसे यह स्थूल पुरुष दिन में नहीं खाता।

नामधेयमीमांसा—विजातीय अर्थ का व्यावर्तक, विधेयार्थ का निश्चायक शब्द नामधेय कहलाता है जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' उद्भिद् पद से उद्भिद् नाम यागविशेष का विधान होता है।

निषेध मीमांसा—पुरुष के निवर्तक वाक्य को निषेध वाक्य कहते हैं जैसे "न कलञ्जं भक्षयेद्"।

अर्थवाद मीमांसा—प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरवाक्य अर्थवाद कहलाता है। इससे लक्षणा द्वारा निष्प्रयोजन विधेयनिषेध्य वाक्यों की प्रशंसा या निन्दा कर स्वार्थ प्रतिपादन किया जाता है। इस अर्थवाद के विधिशेष और निषेधशेष दो भेद होते हैं विधि शेष का उदाहरण 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' तथा निषेध शेष का उदाहरण 'बर्हिषि रजतं न देयम्' है। इस अर्थवाद के गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद तीन भेद किये जाते हैं "विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवाद स्त्रिधा मतः"। गुणवाद का 'आदित्यो यूपः' अनुवाद का 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' तथा भूतार्थवाद का 'यथा इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादि उदाहरण दिये गये हैं।

१—यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः। यथा ओदनं भोक्ष्ये इत्युक्तेऽर्थादापन्नं भवति—नायं पिपासुर्यवागूमिति। सु० अ० ६५

श्रुतार्थापत्ति—वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिये अन्य शब्द की जब कल्पना करनी पड़ती है तब उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं जैसे 'पिधेहि' कहने पर द्वार शब्द की कल्पना करना आवश्यक है। चरककारने इसका लक्षण सरलता के साथ प्रदर्शित किया है यथा "अर्थ प्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्य सिद्धिः। यथा नायं सन्तर्पण साध्योऽव्याधिः इत्युक्ते भवत्यर्थप्राप्ति रपतर्पण साध्योऽयमिति। नानेन दिवा भोक्तव्य मित्युक्ते भवत्यर्थ प्राप्ति र्निशि भोक्तव्य मिति"। च०। सुश्रुतकार ने भी कहा है "यद् कीर्तितमर्थादापद्यते सार्थापत्तिरिति। अर्थापत्ति के अर्थ का प्रकाशन श्रुति या आक्षेप द्वारा होता है। श्रुति अर्थ अभिधा द्वारा होता है किन्तु आक्षेप व्यङ्ग्य ध्वनि द्वारा होता है। व्यङ्ग्य ध्वनि स्तुत, स्तोत्र, समासोक्ति, अपह्नुति, पर्यायोक्ति और समाख्या भेद से ६ प्रकार की मानी गयी है। अर्थापत्ति के ज्ञानोत्तर प्रश्न यह है कि क्या स्तुतस्तोत्रादि अलंकारों के साथ अर्थापत्ति प्रमाण मानी जा सकती है। यदि अलंकारविरहित केवल दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति को ही प्रमाण माना जाय तो भी संशयात्मक ही है (अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् गौ० सू०)। वात्स्यायन का कहना है कि "मेघों की अनुपस्थिति में वर्षा नहीं होती" ऐसा कहने पर मेघों की उपस्थिति में वर्षा होती है यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है, किन्तु मेघों की उपस्थिति में भी वर्षा का अभाव प्राप्त होता है अतएव अनैकान्तिक होने से यह प्रमाण नहीं हो सकता। दूसरे अर्थापत्ति प्रतिषेधात्मक है। प्रतिषेधमात्र अनिश्चयात्मक तथा अनैकान्तिक होता है। इसलिये प्रतिषेधात्मक वस्तु प्रमाणरूप से स्वीकार नहीं की जा सकती। इसके अर्थ यह नहीं हैं कि अर्थापत्ति के सद्भाव में विरोध है। अर्थापत्ति को तद्रूप में मानकर अनुमानान्तर्गत स्वीकार करते हैं। मीमांसाकार इसे अनुमान से पृथक् प्रमाणरूप से मानते हैं।

अभाव—मीमांसकों का कहना है कि भावपदार्थों की उपलब्धि के साधकभूत जिस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण माने गये हैं उसी प्रकार भावेतर पदार्थ के लिए किसी अन्य प्रमाण की भी आवश्यकता है, उसे अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। इसका ज्ञान भावात्मक[1] पदार्थ का ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों से नहीं हो सकता, क्योंकि यह असत्तात्मक है अतएव इस अभाव प्रमाण को भाट्ट, मीमांसक तथा अद्वैतवेदान्तियों ने माना है। नैयायिकों का कहना यह है कि यदि साधनभूत इन्द्रियों से इसका ज्ञान नहीं हो सकता है तो इस अभाव का किसी अन्य प्रकार से बोध भी नहीं हो सकता। वस्तुत: अभाव स्वयं प्रमाण नहीं है, इसका समावेश प्रत्यक्ष तथा अनुमान में हो जाता है जैसे "इस विकसित कली में गन्ध नहीं है" इस गन्धाभाव का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होता है, क्योंकि यह सर्वजनीन न्याय[2] है कि 'जो इन्द्रिय जिस वस्तु को ग्रहण करती है वही इन्द्रिय उस वस्तु के अभाव को भी व्यक्त करती है।

दूसरे अनुपलब्धि द्वारा पदार्थ के अभाव का बोध नहीं किया जा सकता। अन्यथा रात्रि के अन्धकार में तिरोहित सद्वस्तुओं का भी अभाव सिद्ध हो जायगा, जो कि प्रमाणात्मक न होकर मिथ्या-स्वरूप होगा। यदि इसका सुधार 'योग्यानुपलब्धि' किया जाय तब योग्य पद द्वारा किसका ग्रहण किया गया है, यह प्रश्न उपस्थित होगा। यदि योग्य पद से उपलब्धि के समग्र साधनों की उपस्थिति में, जो अनुपलब्धि, वह अभाव है, ऐसा माना जाय, उस समय, ऐसी अवस्था में प्रत्यक्ष के समग्र साधनों की आवश्यकता होगी, अतएव प्रत्यक्षातिरिक्त किसी प्रकार की कल्पना अनुचित है। इसके अतिरिक्त प्रमेय का विषय अभाव नहीं हो सकता क्योंकि भूत

१—पदार्थो द्विविधः सच्चासच्च। च० सू०

२—येनेन्द्रियेण यद्वस्तु गृह्यते तेनेन्द्रियेण तस्याभावोऽपि गृह्यते। मु०

अभूत का तथा अभूत[1] भूत का विरोधी माना गया है।

[2]**सम्भवप्रमाण**—पौराणिकों ने सम्भव तथा ऐतिह्य प्रमाणों को भी माना है। सहकारदर्शनाधीन ज्ञानस्वरूप सम्भव का लक्षण किया गया है जैसे यह पात्र १ सेर दुग्ध का है या मन भर के पात्र में ४० सेर दुग्ध आता है। चरककार ने "सम्भवो नाम यो यतः सम्भवति, स तस्य सम्भवः। यथा षड्धातवो हि गर्भस्य, व्याधेरहितम्, हितमारोग्यस्येति" सम्भव का उल्लेख किया है किन्तु पृथक् प्रमाणरूप से न मानकर अनुमान के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है। जल्पकल्पतरुकार गंगाधर जी ने इस श्लोक की विवेचना करते हुए कहा है कि "षड्धातवो हि गर्भस्य" इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा तथा पञ्चमहाभूतों के संयोग के बिना गर्भ की सम्भावना नहीं की जा सकती है अर्थात् गर्भरूप समुदाय को देखकर उपादान स्वरूप षष्ठ धातुओं का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार रोगी को देखकर यह अनुमान होता है कि इसने अहित सेवन किया है क्योंकि बिना अहित के रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। स्वस्थपुरुष को देखकर भी इसी प्रकार अनुमान होता है कि यह हित पदार्थों का सेवन करता है।

[3]**ऐतिह्य**—'ऐसा लोग कहते हैं' (इति होचुर्वृद्धाः) इसे ऐतिह्य कहते हैं। ऐतिह्य में प्रवक्ता के ज्ञान का अभाव रहता है किन्तु कहावत की परम्परा प्रचलित मिलती है जैसे 'इस जंगल में यक्ष रहता है'। यहाँ पर प्रवक्ता के ज्ञानाभाव के कारण संशय की ही प्रधानता रहती है। संशयात्मक ज्ञान प्रमाणस्वरूप नहीं माना जा सकता है। वक्ता के ज्ञान हो जाने पर आप्तवाक्याभिभूत होकर शब्द प्रमाणान्तर्गत हो

१—कार्यं कार्यान्तरस्यविरोधि, अभूतं भूतस्य, भूतमभूतस्य।

२—सम्भवोनाम सहचारदर्शनाधीनंज्ञानम्।

३—ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशो वेदादिः च०।

जाता है। अतएव ऐतिह्य शब्दातिरिक्त प्रमाण नहीं माना जा सकता है। चरककार ने भी ऐतिह्य प्रमाण को शब्द प्रमाण ही माना है क्योंकि लक्षण करते समय आप्तोपदेश (लौकिक) और वेद (अलौकिक) का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

चेष्टा—शारीरिक संकेतों द्वारा भी ज्ञान प्राप्त होता है किन्तु चेष्टाश्रित ज्ञान अनुमानान्तर्गत ही आ जाता है इसे पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं।

स्मृति—आत्मा और मन के संयोग विशेष से उद्‌बोधित संस्कार द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे स्मृति[1] कहते हैं। इस स्मृति को जैनदर्शनकार परोक्ष में समाविष्ट कर स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं और अन्य दार्शनिक इसे प्रमाण स्वरूप नहीं अंगीकार करते हैं। वैदिककाल में भी श्रुति[2] धर्ममूलक तथा प्रमाणस्वरूप मानी गयी है और मन्वादि स्मृतिरूप धर्मशास्त्र को श्रुतिमूलकता द्वारा प्रामाण्य है, स्वतन्त्र नहीं। अर्थात् स्मृतिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, वह अपने कारणभूत अनुभव के प्रामाण्य पर निर्भर है, अतएव स्मृतिगृहीतग्राही मानी गयी है। कुछ आचार्य लोकव्यवहार के अनुपयुक्त तथा अनुभवसापेक्ष भी कहते हैं। वस्तुतः स्मृति को प्रमाणस्वरूप न माननेवाले भी इसे अप्रमाण या मिथ्याज्ञान नहीं कहते, किन्तु अनुभवसापेक्ष, गृहीतग्राही, लोकव्यवहारातीत कहकर स्वतन्त्रप्रमाणरूप से स्वीकार नहीं करते।

१—आत्ममनः संयोग विशेषात्संस्काराच्च स्मृतिः।

२—पारतन्त्र्यात् स्वतोनैषां प्रमाणत्वावधारणा।
अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते॥
पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृति रुच्यते।
पूर्वज्ञानाद्विना तस्या प्रामाण्यं नावधार्यते॥

प्रमाणों का फल—आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यक्-ज्ञान या अविद्यानाश फल माना गया है। न्याय या वैशेषिक के आचार्यों ने वस्तुविषयक अधिगम को भी लौकिक दृष्टि से स्वीकार किया है। प्रमाण के फल पर विचार करते समय, फल और प्रमाण का पारस्परिक सम्बन्ध और दूसरे स्वरूप पर विचार किया जाता है। न्यायवैशेषिक और मीमांसक आदि फल को प्रमाण से भिन्न मानते हैं। बौद्धदर्शन अभिन्न तथा जैनदर्शन भिन्नाभिन्न मानते हैं। स्वरूप के विषय में प्रायः एक मत है कि—इन्द्रियव्यापार के बाद होने वाले सन्निकर्ष से लेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तक के क्रमिक फलों की परम्परा को फल कहते हुए भी उस परम्परा से पूर्व फल को उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाण भी कहते हैं, अर्थात् इन्द्रिय प्रमाण हैं, फल नहीं हो सकती और हानोपादानोपेक्षाबुद्धि अन्तिम फल फल ही हो सकता है, प्रमाण नहीं, किन्तु बीच के सन्निकर्ष, निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान, तीनों पूर्व प्रमाण की अपेक्षा से फल और उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाण हो सकते हैं।

सम्भाषाविज्ञानीय द्वितीयोल्लास

शास्त्र—विद्वानों द्वारा सर्व प्रथम शास्त्र[1] की परीक्षा करनी चाहिए। जो शास्त्र जनोपयोगी होता है, उसी का अध्ययन, तथा अध्यापन सार्थक तथा लाभप्रद है। शास्त्र परीक्षा के उपरान्त आचार्यादि निर्मित तद्‌तद्‌विषयक ग्रन्थों का निरीक्षण करना चाहिए, क्योंकि कुछ ग्रन्थ प्रामाणिक रूप से प्रकरण उदाहरणादि से युक्त होते हैं, और कुछ ग्रन्थ केवल प्रपञ्चात्मक तथा क्लिष्ट होते हैं जो कि साधारण पण्डितों के लिए दुर्बोध हैं।

आचार्य परीक्षा—आचार्य का परीक्षण[2] करना प्राचीन समय में प्राय: अनिवार्य था क्योंकि उस समय कोई परीक्षायें इत्यादि न थीं,

---

१—बुद्धिमानात्मन: कार्यं गुरुलाघवं कर्मफलमनुबन्धं देशकालौ च विदित्वा युक्तिदर्शनाद् भिषग्बुभूषु: शास्त्रमेवादित: परीक्षेत। विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके, तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्वि-धीर पुरुषासेवितमर्थं बहुलमाप्तजन-पूजित त्रिविध शिष्य बुद्धि हितमपगत पुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रणीत सूत्र भाष्य संग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्व विनिश्चय प्रधानं संगतार्थमसंकुल प्रकरणमाशु प्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रंह्येवं विधममल इवादित्यस्तमोविधूय प्रकाशयति सर्वम्। च. वि. अ. १

२—ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत तद्यथा-पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टिकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमुपस्कृतविद्यमनहंकृतमनसूयकमकोपनं क्लेश क्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थञ्चेति, एवं गुणोह्याचार्य: सुक्षेत्रमार्तवो मेघ इव शस्य गुणै: सुशिष्यमाशु वैद्य गुणै:

तथा केवल एक गुरु से ही सम्पर्क होता था। आधुनिक समय में विद्यालयों द्वारा विद्यार्थियों का एक स्तर निश्चित हो जाता है। अतएव सरकार ने उचित उपाधियों को भिन्न भिन्न विद्यार्थियों के लिए सम्मानित कर दिया है। जिसमें कि गुरुओं की परीक्षा की आवश्यकता शेष नहीं रही है। इसके अतिरिक्त गुरु जनों की परीक्षा विद्यार्थियों से न होकर अधिकारियों द्वारा होती है।

शिष्य परीक्षा[1]—विद्यार्थियों[2] के प्रवेश के लिए भी भिन्न भिन्न विषयों में भिन्न भिन्न परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना निश्चित कर दिया

सम्पादयति। तमुपसृत्याऽऽराधयिषुरुपचरेदाग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तृवच्चाऽप्रमत्तः।

१—ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्यानामन्यतममन्वयवयः शीलशौर्यशौचाऽऽचार विनयशक्तिबलमेधाधृतिस्मृति मतिप्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वोष्ठदन्ताऽग्रमृजुवक्त्राऽक्षिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुपनयेत्। सु० सू० अ० २

२—अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेवादितः परीक्षेत-तद्यथा-प्रशान्तमार्यप्रकृतिकमक्षुद्रकर्माणमृजुचक्षुर्मुख नासावंशंतनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठममिन्मिणंधृतमन्तमलंकृतंमेधाविनं वितर्कस्मृतिसम्पन्नमुदारसत्वं तद्विद्यकुलजमथवातद्विद्यवृत्तं तत्वाऽभिनिवेशिनमव्यंगमव्यापन्नेन्द्रियंनिभृतमनुद्धतमर्थतत्वभावकमव्यसनिनमकोपनशील शौचाचारानुराग दाक्ष्यदाक्षिण्योपपन्नमध्ययनाऽभिकामार्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यमलुब्धमनलस सर्वभूत हितैषिणमाचार्यसर्वानुशिष्टिप्रतिपत्ति कर मनुरक्तमेवंगुणसमुदित मध्याप्यमाहुः। च०वि० अ० ८

(शास्त्रीय शिष्य शिक्षणविधि का हवनादि चरक विमान अध्याय ८ में या सुश्रुत सूत्र अध्याय दूसरे में देखना चाहिये वस्तुतः यह विधि कर्मकाण्ड परक है।)

गया है तथापि जिन विषयों में विद्यार्थी अधिक संख्या में प्रविष्ट होना चाहते हैं तथा स्थान सीमित होते हैं वहाँ पर तुलनात्मक परीक्षा करके विद्यार्थियों को कम कर देते हैं। दूसरे गुरुजन भी विद्यार्थियों की प्रवेश परीक्षा में सीमित अधिकार रखते हैं। अतएव वह किसको पढ़ाना चाहिए और किसको नहीं इस पर शास्त्रीय विचार नहीं कर सकते हैं।

सम्भाषा—खण्डन मण्डन रूप चर्चा के अर्थ में सम्भाषा[1] शब्द वैद्यक शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है। नैयायिकों ने सम्भाषा के स्थान में कथा शब्द को ही ग्रहण किया है।

आयुर्वेद दर्शन में सम्भाषा के पुनः सन्धाय[2] सम्भाषा और विगृह्य सम्भाषा दो भेद किये हैं, किन्तु उत्तरवर्ती नैयायिकों ने सम्भाषा के वाद, जल्प और वितण्डा तीन भेद किये हैं। वस्तुतः सन्धाय सम्भाषा और वाद एक ही है, क्योंकि दोनों के अधिकारी और तत्व का यथार्थ निर्णय रूपी फल आदि समान हैं, केवल नाम से पार्थक्य प्रतीत होता है। विगृह्य सम्भाषा में जल्प और वितण्डा दोनों का समावेश होता है, अथवा चरककार ने विगृह्य सम्भाषा के जल्प और वितण्डा दो भेद माने हैं। विगृह्य कथन शब्द का न्याय सूत्रकार ने जल्प और

१—भिषक् भिषजासह सम्भाषेत। तद्विद्यसम्भाषा हि ज्ञानाऽभियोग-संहर्षकारी भवति, वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यशश्चाऽभिदीपयति पूर्वश्रुते च सन्देहवतः पुनः श्रवणात् संशयमपकर्षति, श्रुते च संदेहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति अश्रुतमपि कञ्चिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति। यच्चाचार्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशतिगुह्याऽभिमतमर्थजातम्ततः परस्परेणसहजल्पन्पिण्डेन विजिगीषुराह संहर्षात् तस्मात्तद्विद्य सम्भाषामभिप्रशंसन्तिकुशलाः। च०वि० अ० ८

२ द्विविधातु खलु तद्विद्य सम्भाषा भवति। सन्धाय सम्भाषा विगृह्य सम्भाषाचेति। च०वि०अ० ८।

वितण्डा के अर्थ में ही उल्लेख किया है। सन्धाय सम्भाषा के अधिकारी का विशेषण "नानुसूयक"[1] महत्व का है जिसे कि आयुर्वेद तथा न्याय दर्शन दोनों में स्वीकार किया गया है।

सन्धाय सम्भाषा— इसके दूसरे पर्याय तत्वबुभुत्सुकथा, अनुलोम[2] सम्भाषा और वाद माने गये हैं। इस विधि में तत्व के निर्णयार्थ स्पष्टतया मतों का समन्वय कर यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। तथा वादी और प्रतिवादी, जय और पराजय से भयभीत नहीं होते हैं। अतएव इस विधि में ज्ञान, विज्ञान, वचन, प्रतिवचन, शक्ति युक्त क्रोध, मात्सर्यादिरहित नम्र तथा प्रियवादी पुरुषों के साथ संयुक्त रूप से विचार विमर्श होता है। यह स्पष्ट तथा विश्वास जनक होना चाहिये।

विगृह्य सम्भाषा[3]—इसमें अधिकारी प्रधानतः जयेच्छु होने के कारण छलबल गुण निष्पन्न होता है। वह जल्प तथा वितण्डा का आश्रय लेकर वादी तथा परिषद् पर अपना गौरव प्रदर्शित करता है। अपना गौरव स्थापित करने के पूर्व प्रतिवादी तथा सभासदस्यों की

---

१ न च ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नेनाकोपेन नाऽनुपस्कृतविदेन ना नुसूयकेनानुनेयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रिय सम्भाषणेन च सह सन्धाय सम्भाषा विधीयते। च०वि०अ० ८।

२ तथाविधेन सह कथयन् विश्रब्धः पृच्छते चास्मै विश्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रह भयादुद्विजेत निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत, न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत्। तत्र चाऽवहिता स्यात् इत्यनुलोम सम्भाषा विधिः। च०वि०अ० ८।

३ अत ऊर्ध्वमितरेण सह विगृह्य सम्भाषेत श्रेयसा योगमात्मनः पश्यन्। प्रागेव च जल्पाज्जल्पान्तरं परावरान्तरं परिषद्विशेषांश्च सम्यक् परीक्षेत। सम्यक् परीक्षाहि बुद्धिमतां कार्यप्रवृत्ति—निवृत्तिकालौ च शंसति तस्मात् परीक्षामभिप्रशंसन्ति कुशलाः

परीक्षा कर लेनी चाहिये। प्रतिवादी या जल्पक में श्रुत, विज्ञान, धारण, प्रतिभा और वचनशक्ति आदि गुण श्रेष्ठता के सूचक होते हैं। क्रोध, धृष्ठता का अभाव, भीरुता और सावधानतादिराहित्य अधमता के परिचायक हैं। यह प्रतिवादी या जल्पक उत्तम, सम, तथा अधम तीन प्रकार के माने गये हैं।

परिषद्—यह सभा का पर्याय है। विद्वत्परिषद्[1] तथा मूर्ख परिषद् भेद से यह दो प्रकार की मानी गई है। इन दोनों प्रकारों की परिषदों के पुनः कारण भेद से सुहृत्परिषद् उदासीन परिषद् और प्रतिनिविष्ट परिषद् तीन भेद होते हैं।

विद्वत् या मूर्खप्रतिनिविष्ट परिषत् में जल्प नहीं करना चाहिये मूढ़, सुहृत्परिषद् या उदासीन परिषद् में विद्वद्विरोधी पंडित के साथ जल्प करना चाहिये। जल्प करते समय विस्तृत सूत्रों से आवद्धित वाक्य बोले। मुस्कुरा मुस्कुरा कर पुनः पुनः हँसे। मुखाकृतियों द्वारा

परीक्षमाणस्तु खलु परावरान्तरम् इमान्जल्पक गुणाञ्छ्रेयस्कराञ्च-दोषवतश्च परीक्षेत सम्यक। तद्यथा-श्रुतं विज्ञानं धारणं प्रतिभानं वचनशक्तिभिति एतान् गुणाञ् श्रेयस्करानाहुः। इमान् पुनर्दोषवतः, तद्यथा-कोपनत्वमवैशारद्यं भीरुत्वमधारणत्वमनवहितत्वमिति। एतान् द्वयानपि गुणान् गुरुलाघवतः परस्यचैवात्मनश्च तालयेत्॥ तत्रत्रिविधः परः सम्पद्यते-वरः प्रत्यवरः समो वा गुणविनिक्षेपतः नत्वेव कार्त्स्न्येन। च. वि अ. ८।

१ परिषच्च खलु द्विविधा। ज्ञानवती मूढ़परिषच्च। सैव द्विविधासती त्रिविधा पुनरनेन कारणविभागेन सुहृत्परिषद् उदासीनपरिषद् प्रतिनिविष्टपरिषच्च। तत्र प्रतिनिविष्टायां मूढ़ायां वा न कथञ्चित् केनचित् सह जल्पो विधीयते। मूढ़ायान्तु सुहृत्परिषदि उदासीनायां वा ज्ञानविज्ञानभन्तरेणाऽप्यदीप्रयशसा महाजनद्विष्टेन सह जल्पो विधीयते।

जल्पक में मूर्खता प्रदर्शन करने का चेष्टा करें। जहाँ तक सम्भव हो, जल्पक को बोलने का अवकाश न दें। प्रतिवादी के कठिन शब्दों का बोध न होने पर उससे कहे कि अब तुम अपनी प्रतिज्ञा से क्यों च्युत होते हो। यदि वह पुनः स्पष्टीकरण करना चाहे तो उसे अवकाश ही न दें जहाँ तक हो अपने से वृद्ध के साथ इस प्रकार की जल्प न करें। प्रत्यवर तथा समान योग्यता वालों से मित्र सभा में जल्पन करना चाहिये।

सावधाना, श्रवणज्ञानविज्ञान, उपधारण, तथा वचन शक्तियुक्त उदासीन परिषद्[1] में जल्प करना हो तो प्रतिवादी के गुण तथा दोषों को ज्ञात करे। जिस विषय में प्रतिवादी योग्य हो उस विषय में अपनी

तद्विद्येन च सह कथयता आविद्धदीर्घ-सूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम्। अतिहृष्टं मुहुर्मुहुरुपहसता परं निरूपयता च परिषदमाकारैर्ब्रुवतश्चास्य वाक्यावकाशो न देयः। कष्टशब्दं च ब्रुवन् वक्तव्यो नोच्यत इति। अथवा पुनर्हीनाते प्रतिज्ञा इति। पुनश्चाह्वयमानः प्रतिवक्तव्यः। परिसंवत्सर भवान् शिक्षतां तावत्। अथवा पर्याप्तमेतावत्ते सकृदेवहि परिक्षेपकं निहितं निहितमाहुरिति नास्य योगः कर्तव्यः कथञ्चिदप्येवं श्रेयसा सह विगृह्य वक्तव्यम् इत्याहुरेके। नत्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः। च. वि. अ. ८।

१—प्रत्यवरेण तु सह समानाऽभि मतेनवा विगृह्य जल्पतासुहृत्परिषदि कथयितव्यम्। अथवाप्युदासीनपरिषदि—अनवधानश्रवणज्ञान विज्ञानोपधारणवचनशक्तिसम्पन्नायां कथयता चावहितेन परस्य साद्गुण्यदोषबल मवेक्षितव्यम्। समवेक्ष्य च यत्रैनं श्रेष्ठं मन्येत नास्य तत्र जल्पं योजयेत् अनाविष्कृतमयोगं च कुर्वन्। यत्र त्वेन मवरं मन्येत तत्रैवैनमाशु निगृह्णीयात्। तत्र नु खल्विमे प्रत्यवराणामाशु निग्रहे भवन्ति उपायाः।

अल्पज्ञता किसी भी प्रकार व्यक्त न कर प्रकरण का परिवर्तन करे। प्रकरण में जहाँ पर न्यूनता मिले वहीं पर पराजित कर दे। पराजित करने के लिये निम्न उपायों का अवलम्बन करें। श्रुतिहीन पुरुष को एक दीर्घ सूत्र पाठ से, विज्ञान हीन को कठिन शब्दों तथा वाक्यों के प्रयोग से, वाक्य धारणा हीन के साथ कठिन सूत्रों से आवद्धित दीर्घ वाक्यों से, प्रतिभाहीन के साथ अनेकार्थवाची भ्रामक शब्दों का पुन: पुन: प्रयोग करके, वचन शक्तिहीन के साथ उसके वाक्यों का बीच-बीच में खण्डन करके, धृष्टता रहित को लज्जित करके, क्रोधी को बहुत श्रमित करके, भीरु को भयादि के द्वारा, असावधान को नियमों में फँसा कर जीते।

विगृह्य सम्भाषा में यथाशक्ति युक्ति युक्त कहें और युक्ति युक्त को माने। कभी कभी इस विवाद से उग्र द्रोह भी उत्पन्न होता है जिसका कि परिणाम भयावह होता है। अतएव विद्वानों ने जल्प और वितण्डा के दुरुपयोग का निषेध किया है।

तद्यथा श्रुतिहीनं महता सूत्रपाठेनाऽभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुन: कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्घसंकुलैर्वाक्य दण्डकै: प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनानेकविधेनानेकार्थवाचिना, वचन शक्तिहीनमर्द्धोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपेण, अविशारदमपत्रपणेन, कोपनमायासनेन भीरुं वित्रासनेन, अनवहितं नियमनेन, इत्येवमेतैरुपायैरवरमभिभवेत्। च. वि. अ. ८।

विगृह्य कथयेत्युक्तया युक्तं च न निवारयन्।
विगृह्य भाषा तीव्रं हि केषांचिद्द्रोहमावहेत् ॥१॥
नाकार्यमस्तिक्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते।
कुशला नाऽभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम् ॥२॥

एवं प्रवृत्तेवादे प्रागेववादात् तावदिदं कर्तुं यतेत। सन्धाय परिषदाऽयनभूतमात्मन: प्रकरणमादेशयितव्यम्। यद्वापरस्य भृशं

किन्तु यदि इस प्रकार का जल्प निश्चय ही हो जाय तो जल्प के पूर्व सभासदों से मिले तथा इस प्रकार का विषय स्थापित कराने की चेष्टा करे जिसे कि स्वयं बहुत अच्छी प्रकार जानता हो और प्रतिवादी के लिये क्लिष्ट हो, पूछने पर भी यह कहे कि विषय का निर्णय सभा के द्वारा समय पर होना उत्तम होगा। वाद के नियमों को भी अपने पक्ष में कराये। वाद के लिये निम्न विषयों का ज्ञान अत्यावश्यक है—जैसे—वाद, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन, उत्तर, सिद्धान्त, शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य, औपम्य, संशय, प्रयोजन सव्यभिचार, जिज्ञासा, व्यवसाय, अर्थप्राप्ति, सम्भव, अनुयोज्य, अननुयोज्य, अनुयोग, प्रत्यनुयोग, वाक्यदोष, वाक्यप्रशंसा, छल, अहेतु, अतीताकाल, उपालम्भ, परिहार, प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निग्रहस्थान, इति।

दुर्गस्यात्। पक्षमथवा परस्य भृशं विमुखमानयेत्। परिषदि चोपसंहितायाम् अशक्यमस्माभिर्वक्तुमिति तूष्णीमासीदेवैत्र च ते परिषद्यथेष्टं यथायोग्यं यथाऽभिप्रायं वादंवादमर्यादाश्च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा।

तत्रेदं वादमर्यादा लक्षणं भवति इदं वाच्यम्, इदमवाच्यमेवं सति पराजितो भवतीति। इमानि खलु पदानि भिषग् वाद मार्ग ज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति तद्यथा—वादः, द्रव्यम्, गुणाः, कर्म, सामान्यम्, विशेषः, समवायः, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतुः, उपनयः, निगमनम्, उत्तरम्, दृष्टान्तः, सिद्धान्तः शब्दः, प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, औपम्यम्, ऐतिह्य, संशयः, प्रयोजनम्, सव्यभिचारम्, जिज्ञासा, व्यवसायः, अर्थप्राप्तिः, सम्भवः, अनुयोज्यम्, अनुयोगः, प्रत्यनुयोगः, वाक्यदोषः, वाक्यप्रशंसा, छलम्, अहेतुः, अतीताकालम्, उपालम्भः, परिहारः, प्रतिज्ञाहानिः, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निग्रहस्थानमिति।

वाद—प्रतिद्वन्द्वी विजिगीषुता से शास्त्र पूर्वक जो कथन आदि करते हैं वह वाद कहलाता है। विजिगीषुता पद द्वारा यह स्पष्ट है कि विगृह्य सम्भाषा के अर्थ में ही पुनः वाद शब्द प्रयुक्त हुआ है

जैनाचार्य वाद को सन्धाय सम्भाषा मानते हैं तथा जल्प और वितण्डा को आभास कहते हैं। विगृह्य सम्भाषान्तर्गत वाद को पुनः जल्प और वितण्डा नामक दो भेदों में विभक्त करते हैं।

जल्पवितण्डा—सपक्ष वचन पूर्वक कथन को जल्प[1] कहते हैं और खण्डनात्मक निरपेक्ष शब्द को वितण्डा कहते हैं। अर्थात् प्रतिवादी के मत को दूषित कर अपने पक्ष की सिद्धि जल्प कहलाता है। तथा प्रतिवादी के पक्ष को केवल दूषित करना और अपना कोई पक्ष न बताना, वितण्डा[2] माना गया है।

प्रतिज्ञा— साध्य वचन का कथन प्रतिज्ञा[3] कहलाता है, जैसे—पुरुष नित्य है.

स्थापना—प्रतिज्ञा की सिद्धि हेतु-दृष्टान्त उपनय और निगमन

१—तत्रवादो नाम स यत् परः परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः (गौतम) स च द्विविधः संग्रहेण जल्पो वितण्डा च। च. वि. अ. ८।

१—तत्र पक्षाऽश्रितयोर्वचनं जल्पः, जल्पविपर्ययोवितण्डा। च.वि.अ.८ प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प इति।

२ - सप्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डेति, गौतमः। वितण्डा नाम परपक्षदोषवचनमात्रमेव। च.।

३—प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनं यथा नित्यः पुरुष इति। चरकः। साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति। गौतम।

द्वारा जो की जाती है, उसे स्थापना[1] कहते हैं।

प्रतिष्ठापना—प्रतिवादी द्वारा हेतु-दृष्टान्त-उपनय और निगमनों से जो प्रतिज्ञा के विपरीत अर्थ की स्थापना होती है, उसे प्रतिष्ठापना[2] कहते हैं।

उत्तर – शास्त्रार्थ के समय वादी के हेतुओं[1] का खण्डन करना उत्तर कहलाता है। अन्य दर्शनकारों ने उत्तर के स्थान में उपालम्भ प्रतिषेध, दूषण, खण्डन आदि शब्दों को पर्याय रूप में अङ्गीकार किया है। आयुर्वेद तथा अन्य दर्शनकारों ने इस उत्तर को दोषाभास को दूर करने में सहायक माना है। अतएव उत्तर द्वारा वादी तथा प्रतिवादी स्थापना तथा प्रतिष्ठापना आदि स्थलों में उद्‌भावित दोषों को दूर करते हैं। ब्राह्मण दर्शनकार (आयुर्वेद न्याय दर्शनादि) जाति-छल आदि रूप से असदुत्तर के प्रयोगों का भी मण्डन करते हैं।

यहां पर "तस्य" पद द्वारा आक्षेप पूर्वक प्रश्न (पूर्वपक्ष) का ग्रहण है। अर्थात् पूर्व पक्ष के उत्तर को निर्णय भी कहते हैं

१—स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतु दृष्टान्तोपनयनागमनैः स्थापना। पूर्वंहिलोके प्रतिज्ञा, पश्चात् स्थापना, किंह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति। यथा नित्यः पुरुषः, अकृतकवत्त्वाद्, आकशवद् यथा चाकृतमाकाशं तथा पुरुषः। तस्मान्नित्यः इति चरकः।

२—प्रतिष्ठापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञायाःप्रतिविपरीतार्थस्थापना यथा अनित्यः पुरुषः ऐन्द्रियकत्वाद्, घटवद्, घट ऐन्द्रियकः सचाऽनित्यस्तथा चाऽयम्। तस्मादनित्य इति।

१—तस्योत्तरं निर्णयः यथा शरीरं प्रपीड्य पश्चादधोगत्वा वसा-मेदोमज्ञानुविद्धं मूत्रं विसृजति वातः एवमसाध्यावातजाः इति।
तयाच्चोक्तम्—कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदो मज्जावसा युतः।
अधः प्रकुप्यते वायुस्तेनाऽसाध्यास्तु वातजाः।
सू. उ. अ. ६५।

किन्तु जैनदार्शनिक असदुत्तर के प्रयोगों का भी निषेध करते हैं। ब्राह्मणपरम्परा से स्पष्टनिर्देश है कि तत्व रक्षा के लिये समय २ पर जातिछलादि के प्रयोगों की आवश्यकता उत्पन्न हाती है। उस समय जातिछल द्वारा असदुत्तर[1] देना चाहिये। किन्तु तत्व रक्षा से अन्यत्र केवल ख्याति मान आदिक भौतिक उद्देश्यों से प्रयोग नहीं करना चाहिये।

दूषण और दूषणाभास—पञ्चावयव वाक्यों में वास्तविक दोषों का उद्घाटन दूषण कहलाता है, और निर्दोष पञ्चावयववाक्य में मिथ्या दोषों का आरोप दूषणाभास कहलाता है।

सिद्धान्त—परीक्षकों द्वारा बहुविधिपरीक्षित तथा हेत्वादिकों से साधित निर्णय को सिद्धान्त[2] कहते हैं। इसके सर्वतन्त्रसिद्धान्त, प्रतितन्त्रसिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त तथा अभ्युपगमसिद्धान्त नामक चार भेद होते हैं।

सर्वतन्त्रसिद्धान्त[3]—यह सम्पूर्ण तन्त्रों में समान रूपतः प्रसिद्धि

१—उत्तरं नाम साधर्म्योपदिष्टेवा हेतौ वैधर्म्यवचनं, वैधर्म्योपदिष्टेवा हेतौ साधर्म्यवचनम् यथा हेतुसधर्माणोविकाराः, शीतकस्यहिमाधेहेतुसाधर्म्यवचनम्, हिमशिशिरवातसंस्पर्शा इति ब्रुवतः परोब्रूयात्, हेतुविधर्माणो विकाराः। यथा शरीराऽवयवानां दाहौष्ण्यकोथ प्रपचने हेतु वैधर्म्य हिमशिशिरवात संस्पर्शा इति। एतत् सविपर्ययमुत्तरम्।

२—सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः। स चतुर्विधः-सर्वतन्त्रसिद्धान्तः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः अधिकरणसिद्धान्तः अभ्युपगमसिद्धान्तः इति (चरकः) विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थाऽवधारणं निर्णयः। तन्त्राऽधिकरणाऽभ्युपगम संस्थितिः सिद्धान्तः (इति गौतमः)।

३—तस्मिन् तस्मिन् सर्वस्मिन् तन्त्रे प्रसिद्धम् (चरक) सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति गौतमः।

प्राप्त करता है—जैसे रोग के कारण होते हैं, रोग होता हैं, तथा साध्य व्याधियों की चिकित्सा भी है।

प्रतितन्त्रसिद्धान्त[1]—भिन्न भिन्न तन्त्रों में भिन्न २ प्रकार से जो सिद्धान्त माना जाता है, उसे प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। जैसे कोई तन्त्र, पाँच इन्द्रियाँ तथा कोई दश इन्द्रियाँ मानता है।

अधिकरणसिद्धान्त[2]—किसी अधिकरण के उपस्थित हो जाने पर उसके द्वारा सिद्ध अन्य अधिकरण भी उपस्थित हो जाय, उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं "जैसे निस्पृह होने से मुक्तपुरुष कर्मानुबन्धी कार्य नहीं करता" इस वाक्य द्वारा बोध होने पर यह भी सिद्ध होता है कि कर्म फल, मोक्ष, प्रेत्यादि भाव भी होते हैं।

अभ्युपगम सिद्धान्त[3]—असिद्ध, अपरीक्षित, अनुपदिष्ट, अहेतुक अर्थ को वाद के समय जो मान लिया जाता है उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं, जैसे द्रव्य को नित्य या अनित्य, वादार्थ स्वीकृत करना।

संशय[4]—सन्दिग्ध अर्थ में निश्चयात्मक ज्ञान का अभाव संशय कहलाता है, जैसे दूरस्थस्थाणु तथा पुरुष ज्ञान में अनिश्चितता।

१—प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिन्नैकैकस्मिन् तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धम् (चरक) समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रसिद्धः प्रतितन्त्रसिद्ध, इति गौतमः।

२—अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यपि अधिकरणानि भवन्ति (इति चरकः) यत् सिद्धावन्य प्रकरण सिद्धिः सोऽधिकरण सिद्धान्त, इति गौतमः।

३—अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम स समर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः इति चरकः। अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेष परीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः इति गौतमः।

४—संशयो नाम संदिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः यथा किमकालमृत्युरस्ति च०।

प्रयोजन[1]—जिस अर्थ को प्रारम्भ में लेकर प्रवर्तित हुआ जाता है उसे प्रयोजन कहते हैं, जैसे यदि अकाल मृत्यु होती है तो मैं सात्म्य तथा आयुष्य पदार्थों द्वारा अपनी रक्षा करूँगा।

सव्यभिचार[2]—अनेकान्त वचनों को सव्यभिचार कहते हैं, जैसे शब्द आत्मा के समान नित्य है, क्योंकि इसका स्पर्श नहीं होता, यहाँ पर हेतु व्यभिचरित है, क्योंकि अणु नित्य होता हुआ भी स्पर्श गुणवाला है तथा बुद्धि स्पर्शरहित होती हुई भी अनित्य है।

जिज्ञासा[3]—परीक्षा या जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं जैसे औषधि ग्रहण के पश्चात् औषधि के गुण धर्म व्यक्त होने के लिए कुछ समय की प्रतीक्षा कर फल जानते हैं।

व्यवसाय[4]—निश्चयात्मक ज्ञान को व्यवसाय कहते हैं जैसे यह वातिक व्याधि है, इसकी औषधि यही है।

उभयहेतुदर्शनं संशयः यथा तलहृदयाभिघातः प्राणहरः पाणिपादच्छेदनमप्राणहरमिति (सु० अ० ६५)।

समानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च, विशेषापेक्षोविमर्शः संशय इति गौतमः।

१—प्रयोजनन्नाम यदर्थमारभ्यन्ते आरम्भाः (च० वि० ८) यदर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनमिति गौतमः।

२-सव्यभिचारन्नाम यद् व्यभिचरणं यथा भवेदिदमौषधंतस्मिन्व्याधौ यौगिक मथवा नेति अनैकान्तिकः सव्यभिचारः इति गौतमः।

३—जिज्ञासा नाम परीक्षा यथा भेषजपरीक्षोत्तरकालमुपदेक्ष्यते (च०)

४—व्यवसायो नाम निश्चयः यथा वातिकएवायंव्याधिरिदमेवात्रभेषजञ्च।

सर्वत्र यदव धारणेनोच्यते स एकान्तः यथा त्रिवद्विरेचयति मदन फलं वामयति (सु० अ० ६५) अथवा निश्चितवचनं निर्वचनं यथा — आयुर्विद्यते अस्मिन्ननेन वा आयुर्विन्दतीति-आयुर्वेदः। सु उ. अ. ६५।

अनुयोज्य[1]—वाक्य दोष युक्त वाक्य को अनुयोज्य कहते हैं, वस्तुत: विशेषगृहीत अर्थ का वाक्य में स्फूट न होना अनुयोज्य कहलाता है, जैसे यह व्याधि संशोधनसाध्य है, ऐसा कहने पर यह प्रश्न उठता है, कि संशोधन से वमन और विरेचन में किसका ग्रहण किया जाय इस वाक्य दोष के न्यूनादिक भेद होते हैं।

अननुयोज्य[2]—न्यूनादिदोषरहित विशेषवचन युक्तवाक्य अननुयोज्य कहलाता है जैसे यह व्याधि वमन साध्य है।

अनुयोग[3]—नैय्यायिक, वैशेषिक तथा आयुर्वेदज्ञ अपने २ विषय के संपूर्ण तंत्र में, तंत्र के एक देश में, वा प्रश्न के अश में, जब परस्पर प्रश्न करते हैं उसे अनुयोग कहते हैं, जैसे पुरुष नित्य है ऐसा कहने पर यह पूछना कि इसमें क्या हेतु है।

प्रत्यनुयोग[4]—अनुयोगात्मक प्रश्न होने पर इस प्रश्न में प्रश्न करना प्रत्यनुयौग कहलाता हैं जैसे इस अनुयोग का क्या अर्थ है।

वाक्यदोष[5]—इस वाक्य दोष के न्यून, अधिक, अनथक, अपा-

१—अनुयोज्यन्नामयद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तदनुयोज्यमित्युच्यते। सामान्यव्याहृतेष्वर्थेषुवाविशेषग्रहणार्थं तद्वाक्य मनुयोज्यम्। यथा संशोधनसाध्योऽयंव्याधिरित्युक्तेः किं वमनसाध्योऽयं किं विरेचन साध्य इत्यनुयुज्यते (च०वि० ८)

२—अननुयोज्यन्नाम अतो विपर्ययेण यथाऽयमसाध्य इति (च०वि० ८)

३—अनुयोगो नाम स यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेवसार्धं तंत्रे तंत्रैकदेशेवा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते अथवा नित्यः पुरुष इतिप्रतिज्ञातेपरोयत्को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः।

४—प्रत्यनुयोगो नाम अनुयोगस्यानुयोगः यथा अस्यानुयोगस्य पुनः को हेतुरिति।

५—वाक्यदोषं नाम यथा खलुवस्मिन्नर्थेन्यूनमधिकमनर्थकमपार्थक वि-

र्थक और विरुद्ध पाँच भेद होते हैं। हेतु-उदाहरण-उपनय निगमन तथा प्रतिज्ञा यह वाक्य के पञ्चावयव माने जाते हैं। इनमें से किसी की कमी हो तो न्यून वाक्य कहलाता है। अथवा कई हेतुओं के संयुक्त रूप से साधनीय वस्तु को केवल किसी एक हेतु द्वारा सिद्ध करना भी न्यून दोष माना जाताहै। एक शब्द के स्थान पर अनेक शब्दों का प्रयोग आधिक्य दोष माना जाता है, जैसे 'आयुर्वेद' के स्थान पर वार्हस्पत्य, औशनस, गौतम, आदि नामों का उल्लेख। अथवा विषय का पुनः पुनः प्रतिपादन (पुनरुक्ति) आधिक्य दोष माना जाता है। अर्थपुनरुक्ति तथा शब्दपुनरुक्ति इसके दो भेद होते हैं। अर्थपुनरुक्ति का उदाहरण जैसे भेषज, औषध, साधन इत्यादि। शब्द पुनरुक्ति जैसे भेषज भेषज। अनर्थक वाक्य से अर्थ शून्य पञ्चवर्ग के समान केवल अक्षर के स्थान मात्र का बोध होता है जैसे मद् लद् तुद् इत्यादि। अर्थवान् शब्द परस्पर अन्वय रहित होकर अर्थ अभिव्यक्त करने में असमर्थ होते हैं, ऐसे वाक्य को अपार्थक वाक्य कहते हैं, जैसे तक्र, चक्र, वंश, रक्त, निशाकराः। वस्तुतः अनुयोज्य के लक्षण में वाक्य दोष ही प्रधान है। अतः जो वाक्य दोष है वही अनुयोज्य है।

रुद्धञ्च। न तानि विना प्रकृतोऽर्थः प्रणश्येत्। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनाऽपिन्यूनं न्यूनंभवति। यद्वाबहूपदिष्टहेतुकमेकेन हेतुना साध्यते तच्चन्यूनम्। अधिकन्नाम न्यूनविपरीतम्। यद्वाऽयुर्वेदे भाष्यमाणेवार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वायत् किञ्चिद-प्रतिसम्बद्धार्थमुच्यते। यद्वाप्रतिसम्बद्धार्थमपिद्विरमिधीयते। तत्पुनरुक्तत्वादधिकम्। तच्च पुनरुक्तं द्विविधम् अर्थपुनरुक्तं शब्द पुनरुक्तञ्चेति। तत्रार्थपुनरुक्तंभेषजमौषधसाधनमिति। शब्दपुनरुक्तञ्च भेषजंभेषजमिति। अनर्थकन्नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात् पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते। अपार्थकन्नाम यदर्थवच्च परस्परेण असंयुज्यमानार्थकम् यथा तक्रचक्रवंशरक्तनिशाकराः इति (च०)।

विरुद्धवाक्य—इसके दृष्टान्तविरुद्ध सिद्धान्तविरुद्ध और समय-विरुद्ध[1] तीन भेद होते हैं। दृष्टान्त में विपरीत गुण धर्मवाली वस्तु का निदर्शन दृष्टान्त विरुद्ध होता है जैसे उष्णवन्हि जल के समान है। सिद्धान्तों के विपरीत साधन भूत वाक्य सिद्धान्तविरुद्ध माना जाता है, जसे सर्वतंत्रविरुद्ध व्याधियों का निदान नहीं है। प्रतितंत्रसिद्धान्त विरुद्ध 'सप्त इन्द्रियां होती हैं। अधिकरण सिद्धान्त विरुद्ध योगी जन आनुवन्धिक कर्म करते हैं। अभ्युपगम सिद्धान्त विरुद्ध 'कार्य द्रव्य-प्रधान' है। समयविरुद्ध भी तीन प्रकार का माना गाया है जैसे आयुर्वेदिकसमय, याज्ञिकसमय, मोक्षशास्त्रिकसमय। आयुर्वेदिक समय में चुतुष्पाद भेषज प्रधान मानी गई है। याज्ञिक समय में पशुओं की बलि का विशेष विधान है। मोक्ष शास्त्रिक समय में प्राणियों में अहिंसात्मक प्रवत्ति ही श्रेयस्कर मानी है। इन तीन कालों में तीनों काल के विधान के विपरीत जब कुछ कहा जाय उसे विपरीत वाक्य कहते हैं :

वाक्य-प्रशंसा[2]—न्यून, अधिक, अनर्थक, अपार्थक तथा विरुद्ध, वाक्य दोष से मुक्त, और पदार्थों में परस्पर अभिव्यक्तियुक्त, अननुयोज्य वाक्य ही प्रशंसा के योग्य माना जाता है। अननुयोज्यवाक्य दोष

१—विरुद्धन्नामयत् दृष्टान्तसिद्धान्त समयैर्विरुद्धम् तत्र पूर्व दृष्टान्तसिद्धान्ता वुक्तौ। समयः पुनस्त्रिधाभवति यथायुर्वेदिकसमयोयाज्ञिकसमयो मोक्षशास्त्रिकसमय इति, तत्रायुर्वेदिकसमय श्चतुष्पादं भेषजमिति। याज्ञिकसमयः आलभ्यायजमानैपशव इति। मोक्षशास्त्रिक समयःसर्वभूतेष्वहिंसेति। तत्रस्वसमयविपरीतमुच्यमानं विरुद्धं भवतीतिवाक्य दोषाः

२—वाक्यप्रशंसा नाम यथाखल्वस्मिन्नर्थे त्वन्यूनमनधिकमर्थवदनपार्थकमविरुद्धमधिगतपदार्थञ्चेति यत्तद्वाक्य मननुयोज्यमिति प्रशस्यते।

शून्य होता है अतः उत्तम माना गया है, किन्तु वह क्लिष्टता के कारण दुर्बोध भी हो सकता है, इसलिए अननुयोज्य अभिव्यक्तियुक्त वाक्य प्रशंसनीय है।

छल—वक्रतायुक्त अर्थाभास तथा अनर्थकवाग्जाल को छल[1] कहते हैं। इसके वाक् छल और सामान्य छल दो भेद हैं। वाक् में अर्थाभास (भेद) करना वाक् छल है, जैसे किसी पुरुष द्वारा 'आप-नवतन्त्र वैद्य है' ऐसा कहने पर उत्तर देना कि मैं नवतंत्रज्ञ नहीं एकतंत्रज्ञ ही हूं। वादी द्वारा पुनः नवसंख्याक तंत्र का निषेधकर नवशब्द का नवीन अर्थ करने पर भी प्रतिवादी का यह कहना कि मैं सैकड़ों बार अभ्यास कर चुका हूं, मेरे लिए शास्त्र नवीन नहीं है इत्यादि। साधारण निर्णय स्वरूप ज्ञान में भी वक्रोक्ति करना सामान्य छल माना जाता है, 'जैसे औषधि से रोग शांत होता है' वादी के इस प्रकार कहने पर प्रतिवादी कहे कि औषधि सद्रूप है. अतः आप के मत से सद् से सद् की शांति होती है, तो यह बताइये कि क्या सद्रूप कास से सद्रूप क्षय की शांति होती है। यह छल विगृह्य संभाषा का ही रूप है जैनदार्शनिकों ने इसे हेय माना है किन्तु आस्तिक दर्शनों में धर्म रक्षणार्थ इसका उपपादन किया गया है।

१—छलन्नामपरिशठमर्थाभासमनर्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव तद्द्विधिम् वाकछलं सामान्यछलञ्च। तत्रवाकछलन्नाम यथाकश्चित् ब्रूयान्नवतंत्रोऽयम्-भिषक् ब्रूयात् 'नाहं नवतंत्रः एक तंत्रे ऽहमिति' परो ब्रूयात् नाहं ब्रवीमिनवतंत्राणितवेति, अपितुनवाभ्यस्तम् ते तंत्रमितिभिषक् ब्रूयात्नमयानवाभ्यस्तं तंत्रम्-अनेकधाभ्यस्तम्तंत्रमिति वाक छलम्। सामान्यछलन्नामयथा व्याधिप्रशमनाय, औषधमित्युक्ते, परोब्रूयात् सत् सत् प्रशमनायेति, किन्नुभवानाह सद्रोगः सदौषधम् यदि च सत् सत् प्रशमनायभवतितत्र सत्कासः सत्क्षयः सत्सामान्यात् कासः तेक्षयप्रशमनायभविष्यतीति एतत् सामान्यछलम्।

अहेतु[1]—इसके प्रकरणसम संशयसम वर्ण्यसम तीन भेद होते हैं। जिस हेतु द्वारा प्रकरण पर विचार होता हो वह यदि निर्णयार्थ ही प्रकाशित करे उसे प्रकरण सम अहेतु कहते हैं। जैसे शरीर से भिन्न आत्मा होने से नित्य है, यहाँ पर शरीर भिन्नत्व द्वारा आत्मा की सिद्धि कर पुनः पक्ष में स्थापित शरीर भिन्नत्व हेतु से आत्मा में नित्यत्व प्रतिपादन करना अहेतु है। जो संशय का हेतु हो, वही संशयच्छेदन का हेतु हो, ऐसे हेतु को संशयसम अहेतु कहते हैं जैसे 'यह आयुर्वेद के कुछ अंश को जानता है' आयुर्वेद के कुछ अंश जानने से वैद्य तथा अवैद्य, दोनों का हेतु है। वर्ण्य से अविशिष्ट हेतु वर्ण्य सम कहा जाता जैसे स्पर्शाऽभावयुक्त शब्द के समान बुद्धि भी अनित्य है। यहाँ पर शब्द और बुद्धि दोनों को वर्ण्यात्मक समान रूप से ग्रहण किया है। अतएव यह वर्ण्य सम अहेतु हो जाता है।

१—अहेतुर्नाम प्रकरणसमः संशयसमोवर्ण्यसमः इति। तत्र प्रकरणसमोनामाऽहेतुः। यथान्यः शरीरादात्मातस्यान्नित्यः। शरीरंह्यनित्यमतो विधर्मिणाचान्ेन भवितव्यमित्येषचाहेतु। नहि य एवपक्षः सएव हेतुरिति। संशयसमोनामाऽहेतुः पुनर्य एव संशयहेतुः सएव संशयच्छेदहेतुः। यथाऽयमायुर्वेदैक देशमाहर्किन्वयं चिकित्सकः स्यान्नवेतिसंशये परो ब्रूयाद् यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति न च संशयच्छेदहेतुं विशेषयति। एषचाहेतुर्नहि य एव सशयहेतुः स एव संशयच्छेद हेतु र्भवति। सवर्ण्यसमोनामाहेतुः यो हेतुर्वर्ण्यः विशिष्टाः यदाकश्चिद् ब्रूयादस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति। तत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपिवर्ण्या तदुभयवर्ण्यविशिष्टत्वाद्वर्ण्यसमोऽप्यहेतुः। गौतमेन तु सव्यभिचार विरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमा तीत काल पञ्चविधो हेत्वाभास उक्तः। तेषां सव्यभिचारविरुद्धयोः हेतुदोषत्वदन्यत्र च दोषत्वादहेतुमात्र दोषत्वा भावाच्च पृथगिहोक्तिः। यस्मात् प्रकरण चिन्ता सनिर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसम इति गौतमः। सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रिय

अतीतकाल—पूर्व के कथन योग्य विषय पश्चात् प्रतिपादित हो, उस समय अतीत काल[1] कहा जाता है, जैसे वादी या प्रतिवादी निग्रह प्राप्त कर चुका हो, किन्तु उस समय यह निग्रह बिना व्यक्त किये, प्रकारान्तर में वाद प्रारम्भ हो जाने पर, यदि कोई भी इस निग्रह को व्यक्त करना चाहे तो वह अतीत काल होने से निग्रह वचन नही माना जाता। आयुर्वेद दर्शन में यह स्वतन्त्र दोष है किन्तु भगवान् गौतम ने इसे हेत्वाभास माना हैं।

उपालम्भ—हेत्वादि में (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन) दोषों को निकालना उपालम्भ[2] कहलाता है जैसे अहेतु तथा हेत्वाभास। वस्तुतः उपालम्भ के बहुत से भेद हैं। जैसे प्रकरणसम, संशयसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, उत्कर्षसम अपकर्षसम, विकल्पसम, साध्यसम, साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसङ्गसम प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, अहेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेष सम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्य सम, कार्यसम इति।

कत्वे समाने नित्या नित्य साधर्म्यात् संशय सम इति। साध्यदृष्टान्तयोरिन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्य साधर्म्यात् संशयसम इति। साध्य दृष्टान्तयोः साधर्म्याद्वर्ण्यसम इति। वस्तुतस्तु त्रयोऽहेतव एव हेतुमात्रदोषत्वाद् हेत्वाभासा इष्यन्ते। एभ्यस्त्वपरे दोषा न हेतुमात्रस्येति।

१—अतीतकालन्नामयत् पूर्ववाच्यं तत् पश्चादुच्यते, तत्कालातीतत्वादग्राह्यं भवतीति। परं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्यपरिगृह्यपक्षान्तरितं पश्चान्निगृहीतेतत् तस्यातीतकालत्वादनिग्रहवचनमसमर्थं भवतीति। गौतमेन हेत्वाभासेषु कालात्ययापदिष्टः कालातीतः' इत्युक्तम्।

२—उपालम्भोनामहेतोर्दोषवचनम्। यथापूर्वमहेतवोहेत्वाभासाव्याख्याताः।

परिहार—हेत्वादि में दोषों का निरास करना परिहार[1] कहलाता है। जैसे शरीरस्थित आत्मा में जीव लिङ्ग मिलते हैं, तदतिरिक्त जीव-लिङ्ग नहीं मिलते। इससे आत्मा शरीर से भिन्न है तथा नित्य है। उपालम्भ के जो प्रकरणसम आदि भेद माने गये हैं, वही भेद इसके भी हैं। गौतम ने उपालम्भ और परिहार का जाति शब्द से ग्रहण किया हैं।

प्रतिज्ञाहानि— किसी प्रश्नात्मक शब्द से प्रथम गृहीत प्रतिज्ञा को छोड़कर दूसरी प्रतिज्ञा करना प्रतिज्ञाहानि[2] कहलाता है। जैसे प्रथम पुरुष में नित्यता प्रतिपादन करने पर प्रतिवादी द्वारा हेतु पूछने पर अनित्य मानने लगना। इसके प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध और प्रतिज्ञासंन्यास चार रूप माने गये हैं

अभ्यनुज्ञा—वादी के पक्ष में प्रतिवादी द्वारा किसी विशेष दोष के आरोपित करने पर वादी अपने पक्ष से बिना दोषों को दूर किये प्रति-वादी के पक्ष में भी वही दोष स्थापित करदें तो उसे अभ्यनुज्ञा[3] या मतानुज्ञा कहते हैं।

१—परिहारोनामतस्यैवदोषवचनस्यपरिहरणम्। यथानित्यात्मनिशरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्तेतस्याऽपगमान्नोपलभ्यन्ते तस्मादन्यः शरीरा-दात्मा नित्यश्च। च.वि.अ. ८। गौतमेनोपालम्भपरिहारौजातिश-ब्देनोक्तौ। तत्रपरिहारश्चोत्तरविशेषः। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यव-स्थानं जातिरिति।

२—प्रतिज्ञाहानि नाम सा प्राक् प्रतिगृहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्तो यत् परित्यजति। यथा प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा नित्यः पुरुष इति पर्यनुयुक्त-स्त्वाह अनित्य इति। च.वि. ८। प्रतिदृष्टान्तधर्माऽभ्यनुज्ञा स्व-दृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिरिति। प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधेधर्मविकल्पात् तद-र्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरमिति। प्रतिज्ञाहेत्वो र्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः। पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञा सन्यास इति गौतमः।

३—अभ्यनुज्ञानामसा य इष्टानिष्टाऽभ्युपगमः च.वि. अ. ८। स्वपक्षदोषाऽभ्युपगमात् परपक्षदोष प्रसङ्गोमतानुज्ञा। गौतमः।

हेत्वन्तर—प्रकृतिहेतु के प्रदर्शनावसर में जो विकृति हेतुओं की स्थापना की जाती है उन्हें हेत्वन्तर[1] कहते है। भगवान् गौतम ने स्पष्ट कहा है कि जब प्रकृति हेतु अपनी पूर्ण सामर्थ्य से वस्तु का बोध कराने में बाधित होता है, उस समय अन्य हेतुओं की आकाँक्षा होती है, उसे हेत्वन्तर कहते हैं।

अर्थान्तर—किसी एक वाच्यार्थ में दूसरा अर्थ उत्पन्न करना अर्थान्तर[2] कहलाता है। गौतम जी के मत से प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थकोद्योतित करना अर्थान्तर है। जैसे ज्वर के लक्षणों द्वारा प्रमेह के लक्षणों का अर्थ निकालना।

निग्रह स्थान—पराजय की प्राप्ति को निग्रह[3] स्थान कहते हैं। इसके विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति दो भेद होते । कुत्सित या विपरीत प्रतिपत्ति को विप्रतिपत्ति कहते हैं. जैसे विषय के आरम्भ में मूक हो जाना। प्रतिपक्षी से हेत्वादि में दोष प्रदर्शन होने पर उन दोषों का निराकरण न करना अप्रतिपत्ति कहलाता है। वस्तुतः इस विप्रतिपत्ति

१—हेत्वन्तरन्नाम प्रकृतिहेतौवक्तव्ये यद् विकृतिहेतुमाह। च.वि.अ. ८
अविशेषोक्तहेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरमिति। गौतमः।

२—अर्थान्तरन्नाम एकस्मिन् वक्तव्ये परं यदाह। यथा ज्वर लक्षणे वाच्ये प्रमेह लक्षण माह। च.वि.अ. ८
प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् निग्रहस्थानमिति गौतमः।

३—निग्रहस्थानंनामपराजयप्राप्तिः, तच्चत्रिरुक्तस्य वाक्यस्याविज्ञानं परिषदिविज्ञानवत्याम् यद्वाननुयोज्यस्याऽनुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः। प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञा कालातीतवचनमहेतुन्यूनमधिकं व्यर्थमनर्थकं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं निग्रहस्थानमिति च.वि.अ. ८। परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थमिति गौतमः।

और अप्रति-पत्ति द्वारा निग्रह स्थान के २२ भेद हो जाते है जैसे १. प्रतिज्ञाहानि २. प्रतिज्ञान्तर ३. प्रतिज्ञाविरोध ४. प्रतिज्ञासंन्यास ५. हेत्वन्तर ६. अर्थान्तर ७. निरर्थक ८. अविज्ञातार्थ ९. अपार्थक १०. अप्राप्त काल ११. अज्ञान १२. अधिक १३. पुनरुक्त १४. अननुभाषण १५. अज्ञान १६. अप्रतिभा १७. विक्षेप १८. मतानुज्ञा १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण २०. निरनुयोज्यानुयोग २१. अपसिद्धान्त २२. हेत्वाभास। इन भेदों में—अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, पर्यनुयोज्योपेक्षण, अप्रतिपत्ति के भेद माने गये हैं, शेष विप्रतिपत्ति के भेद हैं।

वाद कथा—वैद्यों के आयुर्वेद में ही वाद कथा[1] का आश्रय लेना चाहिये। अन्यशास्त्रों में तद् तद् विषयक विज्ञ अधिकारी माने गये हैं इस वाद कथा में सम्पूर्ण अधिकरणों की उपपत्ति तथा वाक्य और प्रतिवाक्यों की मीमांसा की जाती है। अतएव प्रकृतिविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध परीक्षाशून्य, साधकरहित, आकुल और ज्ञापकरहित वाक्यों का प्रयोग न करे। हेतुयुक्त, प्रशस्त, बुद्धिवर्द्धक, निग्रहवाक्यों का प्रयोग करना उत्तम हैं।

१—वादस्तु खलु भिषजां वर्तमानोवर्तेतायुर्वेद एवनान्यत्र। तत्रहि वाक्य प्रतिवाक्यविस्तारा: केवलाश्चोपपत्तय: सर्वाधिकरणेषुच। ता: सर्वा: सम्यगवेक्ष्य सर्ववाक्यं ब्रूयान्नाप्रकृतिकमशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमज्ञापकंवा। सर्वञ्च हेतुमद् ब्रूयाद्धेतुमन्ताह्यकलुषा:। सर्व एव वादविग्रहाश्चिकित्सितेकारणभूता:। प्रशस्तबुद्धिवर्द्धकत्वाद् सर्वारम्भासिद्धिं ह्यावहत्यनुपहताबुद्धि:। इमानिखलुकानिचिदिह प्रकरणानि भिषजां ज्ञानर्थमुपदेक्ष्याम:। ज्ञानपूर्वकं कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशला:। ज्ञात्वाहि कारण-करण-कार्ययोनि-कार्य-कार्यफलानुबन्ध देशकाल प्रवृत्युपायान् सम्यगभिनिर्वर्तमान: कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुबन्ध कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनति महता यत्नेनकर्ता।

प्रकरण—वस्तुत: कारण, करण, कार्ययोनि, कार्य, कार्यफल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति तथा उपाय को जानकर शीघ्र सिद्धि होती हैं।

कारण—जिसके द्वारा कार्य का सम्पादन होता है उसे कारण[1] कहते हैं। कारक और प्रयोजक भी इसके पर्याय है। यह कार्य आत्म जनित, इच्छा जनित तथा शरीर जनित होते हैं, जिन्हें क्रमश: इच्छा, कृति और चेष्टा कहते हैं।

करण—कार्य की सिद्धि में कर्ता का जो प्रधान सा ता है उसे करण[2] क ते है।

कार्ययोनि—जो विकृति प्राप्त कर कार्यत्व रूप में परिणत हो उसे कार्य योनि[3] कहते हैं। जैसे मृत्तिका द्वारा घट निर्मित होने पर मृत्तिका कार्य योनि कहलाती है।

कार्य—कर्ता जिसकी सिद्धि के लिये प्रवर्तित होता है उसे कार्य[4] कहते हैं।

कार्य फल—जिस प्रयोजन के निमित्त कार्य सम्पादित होता है। उसे कार्य फल[5] कहते हैं।

अनुबन्ध—कार्य सिद्धि हो जाने के उपरान्त कार्य निमित्तक शुभाशुभ भाव जो कर्ता को प्राप्त होते हैं उसे अनुबन्ध[6] कहते हैं।

१—तत्र कारणं नाम तद् य: करोति स एवहेतु: स कर्ता।
आत्मजन्या भेवदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृति:।
कृति जन्या भवेत् चेष्टा चेष्टा जन्यं भवेत् फलम्॥ १॥ इति

२—करणं पुनस्तद्यदुपकरणायोपकल्प्यतेकर्तु:कार्याऽभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य।

३—कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्यत्वमेवापद्यते।

४—कार्यन्तु तद् यस्याभिनिर्वृत्तिं कर्ताभिसन्धायप्रवर्तते।

५—कार्यफलं पुनस्तद् यत् प्रयोजन कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते। वि. ८

६—अनुबन्धस्तु कर्तारमवश्यमनुबध्नाति। कार्यादुत्तरकालंकार्यनिमित्त: शुभोवाप्यशुभोभाव:।

देश—जिस स्थान में कार्य किया जाय उसे देश[1] कहते हैं।

काल—परिणाम को काल[2] कहते हैं।

प्रवृत्ति—कार्य के निमित्त जो चेष्टा की जाती है उसे प्रवृत्ति[3] कहते हैं। क्रिया, कर्म, यत्न और कार्य समारम्भ प्रवृत्ति के पर्याय हैं।

उपाय—कार्य-कार्यफल तथा अनुबन्ध के अतिरिक्त कारणादि कों के समीचीनत्व तथा विधान को उपाय[4] कहते हैं। उपाय द्वारा ही कार्य सिद्धि होता हैं। कार्य सम्पादनोत्तर उपाय की आवश्यकता नहीं रह जाती तथा कार्योत्पत्ति के समय कार्यो भाव होता है। कार्योत्तर फल तथा अनुबन्ध की प्राप्ति होती है। अतएव कार्य, कार्य-फल तथा अनुबन्ध के अतिरिक्त अन्य कारणादिकों के विधान को उपाय कहते हैं। इस प्रकार कारणादि दश प्रकरण माने गये हैं।

तन्त्र युक्ति—सुश्रुतकार ने ३: तन्त्र युक्तियों[5] का निर्देश किया है जिनका कि प्रयोजन, वाक्य योजन और अर्थ योजन माना गया है।

१—देशस्त्वधिष्ठानम्।

२—कालः पुनः परिणामः

३—प्रवृत्तिस्तु खलुचेष्टाकार्यार्थासैवक्रिया कर्म यत्नः कार्यसमारम्भश्च।

४—उपायाः पुनः कारणादीनां सौष्ठवमभिसन्धानञ्च सम्यक् कार्य कार्य-फलानुवन्धोपायवर्ज्यानां कार्याणाममिभिर्वर्तक इत्यतो-अभ्युपायः कृतेनोपापार्थोऽस्तिनच विद्यते तदात्वे कृताच्चोत्तर कालं फल फला च्चानुवन्ध इतिव्याख्यातं दशविधम्। अग्रे परीक्ष्यं ततोऽनन्तर कार्यार्था प्रवृत्तिरिष्टा तस्माद् भिषक् कार्यञ्चिकीर्षुः प्राक् कार्य समारम्भात् परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्यार्थकर्म समारम्भेत कर्त्तुम्।

५—अत्रासां तन्त्रयुक्तीनां किंप्रयोजनम्? उच्यते—वाक्ययोजनमर्थ-योजनञ्च। भवन्ति चात्र श्लोकाः।

किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने ३६ तथा ४० संख्या में भी मानी है इनकी अधिकरण[1], योग[2], पदार्थ[3], हेत्वर्थ[4], उद्देश्य[5], निर्देश[6], उपदेश[7], अपदेश[8], प्रदेश[9], अतिदेश[10], अपवर्ज[11], वाक्यशेष[12], अर्थापत्ति[13] विपर्यय[14], प्रसङ्ग[15], एकान्त[16], अनेकान्त[17], पूर्वपक्ष[18], निर्णय[19] अनुमत[20], विधान[21], अनागताऽवेक्षण[22], अतिक्रान्तावेक्षण[23], संशय[24], व्याख्यान[25], स्वसंज्ञा[26], निर्वचन[27] निदर्शन[28], नियोग[29], विकल्प[30], समुच्चय[31], ऊह्य[32] भेदों द्वारा ३२ संख्या होता।

अधिकरण--जिस अर्थ को लक्ष्यकर दूसरे अर्थ भी अभिव्यक्त हो उसे अधिकरण[1] कहते हैं। जैसे रस प्रकरण में रस तथा दोषप्रकरण में दोष।

[2]योग—जिसके द्वारा विपर्यय तथा सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट पदों का एकीकरण किया जाय उसे योग[2] कहते हैं।

[3]हेत्वर्थ—किसी प्रतिपादित विषय से अप्रतिपादित विषय का

असद्वादि प्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।
स्ववाक्य सिद्धिरपिच क्रियतेतन्त्रयुक्तित: ॥
व्यक्तानोक्तास्तु ये ह्यर्था लीनायेचाप्यनिर्मला:।
लेशोक्तायेचकेचित्स्युस्तेषां चापि प्रसाधनम् ॥
यथाम्बुजवनस्यार्क: प्रदीपोवेश्मनो यथा।
प्रबोधस्यप्रकाशार्थं तथातन्त्रस्ययुक्तय: ॥

१—तत्र यमर्थ मधिकृत्योच्यते तदधिकरणं यथा रसं दोषंवा।

२—येन वाक्यंयुज्यते सयोग:, यथा—
तैलंपिवेच्चामृतवल्लि निम्ब हिंसाभयावृक्षक पिप्पलीभि:।
सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु हिताय नित्यंगलगण्ड रोगे ॥ १ ॥
इत्यत्र तैलं सिद्धं पिवेदिति प्रथम वक्तव्ये तृतीय पादे सिद्धमिति प्रयुक्तम्, एवं दूरस्थानांमपिपदानामेकीकरणं योग:। सु.उ.अ.६५

३—यदन्यदुक्तमन्यार्थं साधकंभवति स हेत्वर्थ:। यथा मृत्पिण्डोऽद्भि-

साधन होवे उसे हेत्वर्थ[3] कहते हैं या प्रतिपादित हेतु उभयार्थसाधक हो तो भी हेत्वर्थ माना जाता है। जैसे जल द्वारा मृत्पिण्ड क्लिन्न होता है, उसी प्रकार माष दुग्धादि से व्रण क्लिन्न होता है। यहाँ पर बाह्य मृत्पिण्ड दृष्टान्त द्वारा, आभ्यन्तर व्रण में साम्यता स्थापित की है।

उद्देश—संक्षिप्त कथन उद्देश[1] कहलाता है जैसे शल्य।

निर्देश—वस्तु के विस्तृत वर्णन को निर्देश[2] कहते हैं। जैसे शल्य शारीर तथा आगन्तुक भेद से दो प्रकार का होता है इत्यादि।

उपदेश—इस प्रकार करना चाहिये, इसे उपदेश[3] कहते हैं, जैसे रात्रि में जागरण न करो तथा दिन में शयन मत करो। उपदेश प्रायिक होता है जैसे ग्रीष्म काल में दिवा स्वप्न, तथा कफ प्रकृति वाले पुरुष को रात्रिजागरण का भी विधान है। नियोग अप्रायिक है जैसे पथ्य ही भोजन करना चाहिये। ये ही उपदेश और नियोग में अन्तर है।

अपदेश—विशेष कारण से कार्य के प्रति हेतु के कथन को अपदेश[4] कहते हैं। जैसे मधुर द्रव्य श्लेष्मा का अभिवर्द्धन करता है।

प्रदेश—अतिक्रान्त विषय द्वारा प्रकृत अर्थ के साधन को प्रदेश[5] कहते हैं। जैसे इसके द्वारा देवदत्त का शल्य निकला था, यही यज्ञदत्त का भी निकालेगा।

प्रक्लिद्यते तथा माषदुग्ध प्रभृतिभिर्व्रणः प्रक्लिद्यते इति।

१—समासवचनमुद्देशः यथा शल्यमिति।

२— विस्तरवचनं निर्देशः यथा शारीरमागन्तुकञ्चेति।

३—एवमित्युपदेशः यथा 'तथा नजागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नञ्चवर्जयेदिति।

४—अनेनकारणेनेत्यपदेशः-यथापदिश्यते मधुरःश्लेष्माणमभिवर्धयतीति।

५—प्रकृष्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः यथादेवदत्तस्यानेनशल्य मुद्धृतं तथायज्ञदत्तस्याय मुद्धरिष्यतीति।

अतिदेश—अन्यस्थान में विहितविधि को अन्य स्थान में प्रयोग के लिये जो उपदेश होता है उसे अतिदेश[1] कहते हैं। जैसे हेमन्त ऋतु की विधि साधारणतया शिशिर में भी करनी चाहिये।

अपवर्ग—व्यापक विषय में से गुणक्रियादि द्वारा व्याप्य विषय को पृथक् करना अपवर्ग[2] कहलाता है। जैसे विषोपसृष्ट अस्वेद्य है, किन्तु कीटविष को छोड़कर।

वाक्यशेष—जिस अनुक्तपद से वाक्य समाप्त हो जाता है उसे वाक्य[3] शेष कहते हैं। जैसे शिर, पाणिपाद, पार्श्व, पृष्ठ, उदर, इसके उल्लेख करने पर पुरुष का ग्रहण न होने पर भी पुरुष का बोध होता है।

विपर्यय—जो विहित हो उसके विपरीत विपर्यय[4] होता है। जैसे कृश अल्पप्राण और भीरु दुश्चिकित्स्य है; ऐसा कहने पर शक्तिशाली पुरुष चिकित्स्य है, यहाँ पर विपरीत अर्थ का ग्रहण होता है। अर्थापत्ति से अविपरीत अर्थ का ही ग्रहण होता है।

प्रसंग—प्रकरण के अन्तर युक्त अर्थ से सम होने पर, या प्रकरण के अन्तर पुनः पुनः उक्त होने से प्रसंग[5] कहलाता है। जैसे पञ्च

१—इतरत्र विहितस्य विधेरितरत्र प्रयोगायोपदेशोऽतिदेशः। यथाएषएव-विधिः कार्यःशिशिरे समुदाहृतः। सु.उ.अ. ६५

२—अभिव्याप्याऽपकर्षणमपवर्गः। यथा-अस्वेद्या विषोपसृष्टाः, अन्यत्र कीटविषादिति। सु उ.अ. ६५

३—येन पदेनानुक्तेनवाक्यं समाप्येत स वाक्य शेषः। यथा शिरः पाणि पादपार्श्वप्रष्ठोदरोरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणंविनाऽपि गम्यतेपुरुषस्येति

४—यद् यत्राऽभिहितं तस्यप्रातिलोम्यं विपर्ययः। यथा-कृशाल्पप्राण भीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढ़ादयः सुचिकित्स्या। सु.

५—प्रकरणान्तरेणसमापनंप्रसंगः। यद्वाप्रकरणान्तरितोयोऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसंगः। यथा पञ्चमहाभूतशारीरिसमवायः पुरुषः। तस्मि-

महाभूतों के समवाय से पुरुष होता है, इसी में क्रिया होती है, और ये ही अधिष्ठान है, ऐसा वेदोत्पत्ति अध्याय में कहकर पुनः उल्लेख करना 'पञ्चभूत शरीरि समवायः पुरुषः इति सखल्वेष कर्मपुरुषश्चिकित्साऽधिकृतः इति'।

एकान्त—अविकल्प या नियमपूर्वक जिसका विधान किया जाय, उसे एकान्त[1] कहते हैं, जैसे त्रिवृद् विरेचन कारक, एवं मदन फल वमनकारक हैं।

अनेकान्त—किसी वस्तु को एक स्थान पर प्रधान कहकर, दूसरी जगह उसी विषय में दूसरे को प्रधान कहना अनेकान्त[2] कहलाता है, जैसे द्रव्य को प्रधानता प्रदान कर, रसगुण आदि को भी प्रधानतया स्वीकार करना।

अनुमत—अन्य आचार्यों के मत का किसी प्रकार विरोध न करना अनुमत[3] कहलाता है, जैसे "सप्तरस हैं" इस कथन का खण्डन न करने से यह सिद्ध हो जाता है कि हम भी सप्तरस स्वीकार करते हैं।

विधान—प्रकरण के आनु पूर्वी कथन को विधान[4] कहते हैं।

न्क्रिया सोऽधिष्ठानमिति। वेदोत्पत्तावभिधाय भूतचिन्तायां पुनरुक्तं येनाभिहितं पञ्चभूतशारीरिसमवायः पुरुषः इति सखल्वेष पुरुषश्चिकित्साऽधिकृतः इति। सु.उ.अ ६५

१—यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः। यथा त्रिवृद्विरेचयति मदनफलं वामयतीति। सु.उ.अ. ६५

२—क्वचिद् तथा क्वचिदन्यथेति सोऽनेकान्तः यथा केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं केचिद्रस, केचिद्वीर्यं, केचिद्विपाकमिति। सु.

३—परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्। यथान्यो ब्रूयात् सप्तरसा इति। तच्चाप्रतिषेधादनुमन्येत कथञ्चिदिति। सु.उ.अ. ६५

४—प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितं विधानम्। यथासक्थिमर्माण्येकादश प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितानि। सु.उ.अ. ६५

चन्द्रनन्दन ने परिपाटी से अर्थ कथन को विधान माना है, जैसे सक्थिमर्म ११ हैं, जिन्हें प्रकरण में क्रमशः वर्णित किया है।

अनागतावेक्षण—'भविष्य में इसको कहेंगे' इसे अनागतावेक्षण[1] कहते हैं जैसे कि सूत्र स्थान में किसी विषय का उल्लेख कर, यह कहना कि इसका विस्तृत वर्णन चिकित्सा स्थान में होगा।

अतिक्रान्तावेक्षण—प्रथम निर्दिष्ट का पुनः उल्लेख करना अतिक्रान्तावेक्षण[2] कहलाता है जैसे चिकित्सा स्थान पर किसी विषय के सम्बन्ध में यह कहना कि 'इसका उल्लेख सूत्र स्थान में हो चुका है।'

व्याख्यान—शास्त्र में किसी विषय का अतिशयवर्णन व्याख्यान[3] कहलाता है। जैसे सुश्रुत ने २५ तत्व के पुरुष का विस्तृतविवेचन किया है।

स्वसंज्ञा—अपने शास्त्र में प्रसिद्धि द्वारा अर्थ को बोधित करने में समर्थ, किन्तु अन्य शास्त्रों में भिन्नार्थक हो, उसे स्वसंज्ञा[4] कहते हैं जैसे आयुर्वेद में मिथुन शब्द से 'घृत एवं मधु' का ग्रहण होता है किन्तु अन्यत्र यह भिन्न २ अर्थों में प्रयुक्त होता है।

निर्वचन—निश्चित वचन को निर्वचन[5] कहते हैं जैसे कि जिस

१—एवं वक्ष्यतीत्यनागतावेक्षणम्। यथा श्लोक स्थाने ब्रूयात् चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति। सु.उ.अ. ६५

२—यत्पूर्वमुक्त तदतिक्रान्तावेक्षणम्। यथा चिकित्सितेषु ब्रूयात्—सूत्रस्थाने यदीरितमिति। सु.उ.अ. ६५

३—तन्त्रेऽतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम्। यथा-इह पञ्चविंशतिकः पुरुषो व्याख्यायते, अन्ये स्वायुर्वेदतन्त्रेषु भूतादिप्रभृत्यारम्भचिन्ता। सु.

४—अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा। यथामिथुनमिति मधुसर्पिषोर्ग्रहणं, लोकप्रसिद्धमुदाहरणम्वा। सु.उ.अ. ६५

५—निश्चितवचनं निर्वचनम्। यथा—आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः। सु.उ.अ. ६५

शास्त्र में आयु प्रधान हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

निदर्शन— दृष्टान्त द्वारा वाक्य में कोई वस्तु अभिव्यक्त की जाय उसे निदर्शन[1] कहते हैं। जैसे वायुयुक्त अग्नि कोष्ठ में वृद्धि प्राप्त करती है उसी प्रकार वातपित्तकफ से दूषित व्रण होता है।

नियोग—'ऐसा ही करो', इसे नियोग[2] कहते हैं। जैसे पथ्य ही भोजन करो।

समुच्चय—दो समान विषयों का एक में समन्वय करना समुच्चय[3] कहलाता है, जैसे मांसवर्ग में एणादिक तथा लावादिक दोनों प्रधान हैं।

विकल्प—'यह है कि, यह' इस प्रकार के ज्ञान को विकल्प[4] कहते हैं जैसे यह रसौदन है या सघृतयवागू।

उह्य—जो साक्षात् बुद्धिगम्य हो उसे उह्य[5] कहते हैं। जैसे कही हुई अन्नपान विधि में चतुर्विधि अन्नपान (भक्ष्यभोज्यलेह्यपेय) का निर्देश होने पर, तथा द्विविध का पूर्णज्ञान होने से यह तर्कणा होती है कि द्विविध ही प्रसिद्ध है और इसी में चतुर्विध का समन्वय होता है क्योंकि घनता की दृष्टि से भक्ष्य एवं भोज्य, तथा द्रवता के कारण लेह्य एवं पेय समान हैं।

१—दृष्टान्तव्यक्तिर्निदर्शनम् । यथा—अग्निर्वायुनासहित: कोष्ठे वृद्धिं गच्छति तथा वातपित्तकफ दुष्टो व्रणइति । सु.उ.अ. ६५

२—इदमेव कर्तव्यमिति नियोग: । यथा पथ्यमेव भोक्तव्यमिति । सु.

३—इदं चेदं चेति समुच्चय: । यथा मांसवर्गे एणहरिणादयो लावातित्तिरि शारङ्गाश्च प्रधानानीति । सु.उ.अ. ६५

४—इदं वेदं वेति विकल्प: । यथा रसौदन: सघृतायवागू र्वा । सु.

५—यदनिर्दिष्टं बुद्धयाऽवगम्यते तदुह्यम् । यथाभिहितमन्नपानविधौ चतुर्विधं चान्नमुपदिश्यते भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयमिति, एवं चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविधमभिहितम्; इदमत्रोह्यम—अन्नपाने विशिष्टयोर्ग्रहणे कृते चतुर्णामपि ग्रहणं भवतीति ; चतुर्विधश्चाहार: प्रविरल: प्रायेण द्विविध एव, अतोद्वित्वं प्रसिद्धमिति किञ्चन्यदन्नेनभक्ष्य मवरुद्धं घनसाधर्म्यात् पेयेनलेह्यं द्रवसाधर्म्यादिति । सु.उ.अ. ६५

पदार्थ विज्ञानीय तृतीयोल्लास

श्रमोत्पादक भगवान् की भावात्मक सृष्टि में माया के विज्ञानार्थ अनेकानेक शास्त्र निर्मित हुए, जिनमें कि दर्शन शास्त्र विशेषत: उल्लेखनीय है। दर्शनशास्त्र आस्तिक तथा नास्तिक दो भागों में विभक्त है। आस्तिक दर्शन के पुन: न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व मीमांसा उत्तर मीमांसा षट् भेद होते हुए भी, तीन द्वन्द्वों में सीमित होते हैं। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध, जैन, पाशुपत, नकुलीश, पूर्णप्रज्ञ, रामनुज, रसेश्वर, पाणिन, शैव, प्रत्यभिज्ञा इत्यादि अनेकानेक भेद पाये जाते हैं। दर्शनशब्द[1] का अर्थ चाक्षुपज्ञान में होता है, किन्तु शास्त्रपरक दर्शनशब्द का अर्थ करणान्वित "दृष्यते अनेन" किया जाता है। दर्शनशास्त्र से ही भावाभावमयी त्रिगुणात्मिका सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-लय का यथार्थ ज्ञान होता है, यथार्थज्ञान[2] से मोक्ष होता है, जो कि मानव जीवन का परमसुख है। आयुर्वेदशास्त्र हिताहित सुखदु:खादि की वस्तुस्थिति के साथ प्रादुर्भूत हुआ, तथा इसका उद्देश्य ऐहिलौकिक एवं पारलौकिक दु:खों के निवृत्तयर्थ उपायों को प्रस्तुत करना है, अतः आयुर्वेद में स्थूल या सूक्ष्म रूप से समस्त[3] दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। दर्शनकारों ने अखण्ड ब्रह्माण्ड को पदार्थमय या तत्वमय माना है, जो कि आयुर्वेदज्ञों को भी इष्ट है। यह पदार्थ शब्द पद और अर्थ दो शब्दों का संयुक्त रूप है अत: पदार्थ ज्ञान के लिये पद एवं अर्थ के ज्ञान का होना आवश्यक है। वैयाकरणों ने पद शब्द की परिभाषा

१—त्यदादिषु दृशोऽनालोचनेकञ्च । पा० सू०

२—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । श्रुतिः

३—यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचिद् । च० ।

'सुप्तिङन्तं पदम्' तथा नैयायिकों ने 'शक्तं पदम्' की है। वस्तुतः शब्द एक विशिष्ट सम्बन्ध द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करता है इस सम्बन्ध को शक्ति या अभिधा कहते हैं। वैयाकरण, साहित्यिक तथा मीमांसक इस शक्ति को भी पदार्थ मानते हैं, किन्तु नैयायिक पदार्थान्तर न मानकर इसे इच्छा नामक गुण में ही कल्पित करते हैं। कुछ नैयायिक इस शक्ति को ईश्वरेच्छा कहते तथा आधुनिक नामों में भी ईश्वरेच्छा की सत्ता को अभिव्यक्त करते हैं। नैयायिकों ने इसके योग, रूढ़, योगरूढ़ एवं यौगिकरूढ़ चार भेद माने हैं, जब कि साहित्यिक केवल तीन भेद ही मानते हैं। वेह योगरूढ़ एवं यौगिकरूढ़ में विशेष भेद स्वीकार नहीं करते।

१—**यौगिक**—यह अपनी अवयव शक्ति द्वारा बोध करता है जैसे पाचक।

२—**रूढ़**—यह अवयव शक्ति से निरपेक्ष होकर समुदाय शक्ति द्वारा अर्थ बोधक है जैसे मण्डप, डित्थ, कपित्थ इत्यादि।

३—**योगरूढ़**—यह अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति के संयुक्त रूप से बोध कराने में समर्थ होता है जैसे पङ्कज।

४—**यौगिकरूढ़**—यह अपनी अवयव शक्ति और समुदायशक्ति दोनों से पृथक् २ बोध करा सकता है जैसे उदभिद्।

अन्य आचार्य शक्ति या अभिधा के भेदो को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि सम्पूर्ण शब्द अखण्ड और रूढ़ि है, उनका समासान्तर्गतविभाग तथा तिङन्त, कृदन्त और तद्धितान्त प्रकृति तथा प्रत्यय का विभाग काल्पनिक हैं।

पद में शक्ति[1] का बोध व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपदसान्निध्य से प्राप्त होता है।

१—शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥मु०॥

इस प्रकार अभिधा या शक्ति द्वारा प्रदिपादित अर्थ वाच्य या अभिधेय और शब्द को वाचक कहते हैं। वाचक शब्द में संकेत कुछ आचार्य व्यक्तिगत तथा कुछ आचार्य जातिगत मानते हैं। व्यक्तिगत मानने वाले द्रव्य (जाति) गुण कर्म और संज्ञा[1] में (गौ-शुक्ल-चल-डित्थ) संकेत की प्रवृत्ति मानते हैं। जातिगत माननेवाले भी जाति के वस्तुधर्म तथा वक्तृयदृच्छा सन्निवेशित दो भेद करते हैं। वस्तुधर्म सिद्ध एवं साध्य में विभक्त कर पुनः सिद्ध के प्राणपद और विशेषाधान हेतु दो भाग कर देते हैं अतः प्राणपद, विशेषाधानहेतु, साध्य और वक्तृयदृच्छा सन्निवेशित चार भेद हो जाते हैं। प्राणपद जातिवाचक, विशेषाधान-हेतु गुणवाचक, साध्य क्रियावाचक और वक्तृयदृच्छासन्निवेशित संज्ञावाचक है। जाति में संकेत माननेवालों का कथन है कि "गौ केवल स्वरूप से गौ नहीं होती, और न वह गौ से भिन्न होती है, किन्तु जाति के सम्बन्ध से ही गौ गौ होती है[2]" नैयायिक जाति में व्यभिचार तथा व्यक्ति में आनन्त्य दोष दिखाकर शब्द में ही विशिष्ट शक्ति मानते हैं। अन्य आचार्य अपोहरूप (अतद्व्यावृत्तिरूप) भी मानते हैं।

लक्षणा—अभिधावृत्ति से-प्रतिपादित अर्थ के अचरितार्थ होने पर, रूढ़ि या प्रयोजन से जो अन्य अर्थ जिस सम्बन्ध द्वारा करते हैं, उसे लक्षणा[3] कहते हैं जैसे गंगा में गांव है, मुखचन्द्र है, घृत जीवन है। इस लक्षणा के रूढ़ि और प्रयोजन दो कारणों के

१—'गौः शुक्लश्चलोडित्थः' इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः महाभाष्यकारः।

२—नहि गौ, स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभि संबन्धात्तु गौः ।का० प्र०।

३—मुख्यार्थवाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपित क्रिया ॥ काव्य प्रकाश

कारण निरूढ़ा एवं प्रयोजनवती दो भेद हो जाते हैं। निरूढ़ा के गौड़ी निरूढ़लक्षणा एवं शुद्धा निरूढ़लक्षणा पुनः दो भेद होते हैं। सादृश्य सम्बन्ध से गौड़ी (जैसे अनुकूल) एवं सादृश्येतर सम्बन्ध से शुद्धा (जैसे नीला घड़ा) मानी जाती है। प्रयोजनवती गौड़ी सारोपा एवं साध्यवसाना भेदों द्वारा पुनः दो भागों में विभक्त होती है। सारोपा में विषय और विषयी दोनों का पृथक् तया निर्देश होता है जैसे चन्द्रमुख। साध्यावसाना में सादृश्य सम्बन्ध द्वारा विषय और विषयी में से किसी एक के निर्दिष्ट होने पर दूसरे का भी बोधकर लिया जाता है जैसे स्त्रियों के समूह को चन्द्रमा की पंक्ति द्वारा वर्णित करना। प्रयोजनवती शुद्धालक्षणा के जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा एवं साध्यवसाना चार भेद किये जाते हैं जैसे गंगा में घर, कुन्त प्रवेश, गौ वाहीक, घृत जीवन इत्यादि। प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्यात्मक होती है अतएव गूढ़ एवं अगूढ़ व्यंग्य द्वारा छै के बारह भेद होते हैं। इस प्रकार १२ प्रयोजनवती एवं २ निरूढ़ा मिलाकर १४ भेद माने गये हैं। साहित्य दर्पणकार ने ८० भेद माने हैं। लक्षणावृत्ति द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन होता है, उस अर्थ को लक्ष्य तथा शब्द को लक्षक कहते हैं।।

व्यञ्जना—अभिधा आदि के विरत हो जाने के पश्चात् जो दूसरा अर्थ, शब्द या अर्थ में से अभिव्यक्त होता है वह व्यञ्जना कहलाता है। यह व्यञ्जना वृत्ति अभिधा तथा लक्षणा वृत्ति से भिन्न, स्वतंत्र ज्ञान कराती है जैसे 'सूर्यास्त हो गया, यह वाक्य मजदूर मालिक से कहे तो छुट्टी का समय हो गया, यह अर्थ होता है। यदि गुरु शिष्य से कहे तो संध्या वन्दनादि के समय का बोध होता है। यदि पति की मरणासन्न अवस्था में स्त्री से कहा जाय तो पति की मृत्यु का सूचक होता है। इस व्यञ्जना द्वारा ज्ञानोत्पत्ति में वक्ता, श्रोता, वाच्यार्थ, विशिष्टज्ञान, प्रतिभा और प्रकरण आदि सहकारी हैं। इस ध्वनि के १०४०४ भेद किये गये हैं किन्तु आवश्यक भेद प्रधान और अप्रधान

दो ही माने गये हैं। प्रधान को ध्वनि[1] तथा अप्रधान को गुणी भूत व्यंग्य कहते हैं। व्यञ्जना वृत्ति से प्रतिपादित शब्द व्यञ्जक या ध्वनि कहलाता है एवं अर्थ को व्यंग्य, या ध्वनि भी कहते हैं। नैयायिक व्यञ्जना को अनुमानान्तर्गत मानते हैं तथा कुछ अन्य आचार्य ध्वनि को अभाव तथा भाक्त भी कहते हैं। वस्तुतः अनुमान में हेतु अदुष्ट होता है और दूषित हेतु द्वारा व्यभिचार उत्पन्न होता है किन्तु ध्वनि में हेतु के दूषित या अदूषित होने से कोई भेद नहीं होता। अभाव-स्वरूप ध्वनि को मानने में अतिव्याप्ति एवं भाक्त मानने पर अव्याप्ति लगती है।

पदार्थ—पद के अर्थ को पदार्थ[2] कहते हैं, अर्थात् वाचक, लाक्षणिक या व्यञ्जक शब्दों द्वारा उत्पन्न विषय पदार्थ कहलाता है। वस्तुतः प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों द्वारा जो भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है उसे पदार्थ कहते हैं जैसे स्थावर सृष्टि में घट पट मठादि, तथा जङ्गम सृष्टि में पशु पक्षि मनुष्यादि, स्वीकार किये गये हैं। जगत् के इन अपरिमित पदार्थों को प्राचीन महर्षियों ने एवं नवीन वैज्ञानिकों ने वर्गीकरण द्वारा विभजन किया है जिससे कि सुगमता से ज्ञानोपार्जन हो सके। वेदान्ती आत्म तथा अनात्म प्रथम दो भेदकर, आत्म के ब्रह्म और जीव तथा अनात्म के कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल भेद करते हैं। सांख्य के आचार्य व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ तीन तत्वों[3] में समस्त संसार का समावेश कर, इन तीन तत्वों के २४, २५ या २६ भेद कर लेते हैं।

१—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्य विशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्यालोक
प्रतीयमानं पुनरन्य देव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्य मिवाङ्गनासु॥ ध्व लो.

२—योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स एव पदार्थः। पदस्य पदयोः पदानां वार्थः पदार्थः, अपरिमिताश्चपदार्थाः। सु० उ० अ० ६५। अभिधेयत्वं पदार्थ सामान्य लक्षणम्। "प्रमिति विषया पदार्थाः" सप्तपदार्थी।

३—व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। सा० का०।

प्राचीन नैयायिक १६ पदार्थ तथा नवीन नैयायिक सात पदार्थ ही मानते हैं वैशेषिक ६ पदार्थ[1] ही स्वीकार करते हैं। चरककार ने भी ६ पदार्थों के वर्गीकरण को प्राथमिकता प्रदान करी है एवं अन्य वर्गीकरणों का भी यथास्थान प्रदर्शन किया है यह ६ पदार्थ सामान्य, विशेष, द्रव्य गुण कर्म एवं समवाय हैं जो कि वैशेषिक दार्शनिकों ने भी अङ्गीकार किये हैं। चरककार ने पुनः तिस्रैषणीय अध्याय में 'द्विविध मेव खलु सर्वं सच्चा सच्च' इस वाक्य द्वारा सत् पद से भाव तथा असत् पद से अभाव का उल्लेख किया है जैसा कि प्राचीन नैयायिक वर्णन करते थे। गौतम जी के 'प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजन-सिद्धान्तदृष्टान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' इन षोडश पदार्थों का वर्णन विमानस्थान के अन्तिम अध्याय में किया है। सांख्योक्त २४ तत्वों[2] का उल्लेख शारीरस्थान में कतिधापुरुषीय अध्याय में है। यद्यपिचरककार ने सम्पूर्ण दार्शनिकों के वर्गीकरणों का उल्लेख किया है तथापि उन्हें वैशेषिकोक्त षट् पदार्थ जन्य वर्गीकरण ही इष्ट है।

सांख्योक्त २४ तत्वों का समन्वय इन्ही ६ पदार्थों में हो जाता है जैसे मूलप्रकृति सम्बन्धविशेष या शक्तिरूप, महान् बुद्धिनामक गुण, अहंकार इच्छाद्वेषात्मकमनोव्यापार, पञ्चतन्मात्रायें तत्तत्भूतान्तर्गत परमाणुरूपतत्तद्द्रव्य, मन द्रव्य, इन्द्रियाँ भी तत्तद्द्रव्यान्तर्गत, शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध गुण, पुरुष आत्मरूपद्रव्य, अतः २५ तत्व ६ तत्वों में ही सीमितहो जाते हैं। गौतमोक्त १६ पदार्थों भी ६ पदार्थों में अन्वित होते हैं जैसे प्रमाण के इन्द्रियादिविषयों का द्रव्य में एवं

१—सामान्यञ्च विशेषञ्च गुणान्द्रव्याणि कर्म च।
समवायञ्च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तंविधिमास्थिताः। च. सू. अ. १
'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्'। वै. द. १।४

२—ततश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्ट धातुकी। च. शा. अ. १

व्याप्ति ज्ञानादि का गुण में, अतः प्रमाण द्रव्य एवं गुण दोनों में संयुक्त रूप से अन्वित होता है। प्रमेय पद से आत्मा शरीर इन्द्रिय बुद्धि मन अर्थ तथा दोषों का बोध होता है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और मन द्रव्यों में तथा बुद्धि, मन अर्थ और दोष गुण में, संशय गुण में, प्रयोजन इच्छा तथा विषयरूप होने से गुणद्रव्य में, दृष्टान्त का विषयानुसार द्रव्यगुणादि में, अवयव एवं तर्क का गुण में, निर्णय, वादजल्प वितण्डा का गुण में, हेत्वाभास का द्रव्य में, छल और जाति का गुण में, निग्रहस्थानों का द्रव्यादि में अन्तर्भाव होता है। निग्रहस्थानों में से प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञासंन्यास, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, पर्यनुयोज्योपेक्षण अभावात्मक होने से तत्तद्पदार्थों के अभाव रूप स्वीकार किये जाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भी सृष्टि के चेतन एवं अचेतन दो विभागकर चेतन के जीव एवं वनस्पति शास्त्र, तथा अचेतन के भौतिक एवं रसशास्त्र नामक विभेद करते हैं।

अभाव

चरककार तथा वैशेषिक दार्शनिकों ने पदार्थों के परिगणन में अभाव का उल्लेख नहीं किया। कुछ आचार्यों ने इसे पदार्थ रूप से ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। गौतम ने भी अपने १६ पदार्थों में अभाव का उल्लेख नहीं किया। तथापि अभाव की सत्ता सभी मानते हैं। कुछ आचार्य इसे पृथकत्व, संयोग एवं विभाग नामक गुणों में समन्वित करते हैं। कुछ अधिकरणात्मक, ज्ञानात्मक या कालात्मक मानने के लिये सम्मति देते हैं। वस्तुतः अभाव की स्वतन्त्र कल्पना ही उचित है क्योंकि वह प्रत्यक्षतया पृथकत्व, संयोग एवं विभाग से भिन्न है। अधिकरण स्वरूप अभाव की कल्पना करने पर सर्वत्र अधिकरण (आधार) लुप्त होजायगा, दूसरे आधाराधेयभाव नष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त 'जिस इन्द्रिय से जिस भौतिकगुण का प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी इन्द्रिय से उस भौतिक गुण के अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है' यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त भी अचरितार्थ हो जायगा। यदि ज्ञान विशेष एवं कालविशेष स्वरूप माना जाय तो इनका अत्यन्ताभाव

होने से ज्ञान ही न होगा अतः अभाव को सप्तम पदार्थ मान लेना ही उचित है। उदयनाचार्य ने 'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' इस महर्षिकणाद के सूत्र की व्याख्या[1] करते समय स्पष्ट कहा है कि अभाव का पृथक वर्णन इस लिये नहीं किया गया कि उसका वर्णन प्रत्येक भाव पदार्थ के निरूपण में स्वयं हो जाता है, तुच्छता की दृष्टि से उपेक्षा नहीं की गई है। महर्षिकणाद एवं पतञ्जलि आदि ने अन्यस्थलों पर अभाव का स्पष्ट उल्लेख भी किया है जैसे 'क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत्। 'पदार्थो द्विविधः सच्चा सच्च' इत्यादि।

शक्ति एवं सादृश्य

उपमानचिन्तामणिकार ने शक्ति एवं सादृश्य को भी पदार्थ मानने के लिए शंका प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि मणिमन्त्रऔषधि आदि में एक प्रकार की विशिष्टता रहती है, जिससे कि वह कार्य संपादन करते हैं, उसे शक्ति नामक अतिरिक्त पदार्थ मानना आवश्यक है। इसका प्रत्यक्षानुभव ज्वलित अग्नि में चन्द्रकान्त मणिसंयोग करने पर दाहाभाव से तथा इस प्रकार दाहाभाव में सूर्यकान्त मणिसंयोग करने पर पुनः दाहकता की प्रतीति आदि से किया जा सकता है। यह विशेषता द्रव्य गुणकर्म से भिन्न है क्योंकि गुण में रहती है। उत्पत्ति एवं नाश युक्त होने से सामान्यविशेष एवं समवाय स्वरूप नहीं हो सकती। भावात्मक होने से अभाव में भी समावेश नहीं की जा सकती नैयायिकों का कथन है कि हम वाधक या साधक विषयों का हेतु में समावेश करते हैं अतः चन्द्रकान्तमण्यभावविशिष्टवह्नि या सूर्य कान्तमणियुक्त वह्नि को ही दाहकता के प्रति कारण मानते हैं। इसी प्रकार मन्त्र-औषधितप आदि वाधक कारणों का हेतु में समावेश हो जाने पर नवीन पदार्थ की कल्पना नहीं करनी पड़ती जिससे कि नवीन पदार्थ के प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदि का अनन्त कोटि कल्पना से मुक्ति मिल जाती

१—अभावस्तु स्वरूपवानपि पृथक् नोद्दिष्टः प्रतियोगि निरूपणाधीन निरूपणत्वाद् न तु तुच्छत्वाद्। उ०।

है। वस्तुतः शक्ति की सत्ता को देखते हुए नैयायिकों को भी अन्य दार्शनिकों के समान इसे पदार्थातिरिक्त स्वीकार करना ही उत्तम है। यद्यपि यह सत्य है कि बिना शक्तिमाने सम्बन्धविशेषों की कल्पना से काय चलजाता है, तथापि इन सम्बन्धविशेषों का क्षेत्र भी अपरिमित है। इसके अतिरिक्त पद द्वारा पदार्थज्ञान, मणिग्रहमन्त्रओषधि आदि का प्रभाव आदि प्रत्यक्षज्ञान की अवहेलना अनुचित है। वस्तुतः आधुनिक वैज्ञानिक 'कार्य संचालन की क्षमता को भी शक्ति कहते हैं' तथा उसके स्थितिजशक्ति, गतिजशक्ति, वाष्पशक्ति आदि अनेक रूप मानते हैं। ताप प्रकाश विद्युत् शब्द चुम्बक आदि समस्त शक्ति स्वरूप ही माने जाते हैं। क्योंकि यह समस्त आकार एवं भ र शून्य है।

सादृश्य

'उसका मुख चन्द्रमा के समान है' इस प्रकार के उपमानोपमेय भाव को स्थापित करने वाला पदार्थ सादृश्य है। यह सादृश्य सामान्य में रहने के कारण ६ भाव पदार्थों से भिन्न है क्योंकि कोई भी भाव पदार्थ सामान्य में नहीं रहता जैसे गोजातिनित्य है वैसे ही मनुष्य जाति भी नित्य है। भावात्मक होने से अभाव भी नहीं हो सकता अतः सादृश्य को भी अतिरिक्त पदार्थ मानना चाहिये। वस्तुतः सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। इसकी विवेचना इस प्रकार है कि 'उससे भिन्न होता हुआ उसमें रहने वाला धर्म' सादृश्य है। जैसे कि 'चन्द्रमुख यहां पर चन्द्रमा से भिन्न जो मुख, वह चन्द्रमा के आह्लादकत्वादि गुणों के समान गुण वाला है, यह अर्थ ध्वनित होता है। नवीन आचार्य सादृश्य को भी अतिरिक्त मानते हैं एवं उदहरण यह देते हैं कि 'घट रूप वाला है पर चन्द्रमा के समान है' इत्यादि नाना प्रकार के सामान्य ज्ञान का बोधक सादृश्य ही हो सकता है। कुछ लोग अधिकरण को भी पदार्थ मानने में अपनी सम्मति व्यक्त करते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार पात्र में घृत है उसी प्रकार घृत में पात्र है यह भी सिद्ध होगा, यदि अधिकरण को पदार्थ न माना जायगा।

पदार्थों का साधर्म्य एवं वैधर्म्य

पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध साधर्म्य एवं वैधर्म्य द्वारा ही ज्ञात होते हैं। समान धर्म वाले पदार्थ सधर्मा तथा विरुद्ध धर्मवाले विधर्मा कहेजाते हैं। सधर्मा एवं विधर्मा के भावसम्बन्ध से साधर्म्य एवं वैधर्म्य शब्द का निर्माण होता है। समस्त पदार्थों[1] में ज्ञेयत्व, वाच्यत्व एवं प्रमेयत्व साधर्म्य है। द्रव्य गुण कर्म सामान्य एवं विशेष में अनेकत्व एवं समवायित्व साधर्म्य है। समवाय सम्बन्ध द्रव्यगुणकर्म में अनुयोगी रूप में तथा सामान्य एवं विशेष में प्रतियोगी स्वरूप में रहता है। द्रव्यगुण एवं कर्म सत्तात्मक है। द्रव्य से अतिरिक्त पदार्थों में गुणशून्यत्व एवं क्रियाशून्यत्व रहता है। नैयायिक गुण में गुण नहीं मानते अतः गुण कर्म को द्रव्य के आश्रित मानते हैं। सामान्य विशेष समवाय एवं अभाव में सामान्यशून्यत्व मानते हैं। पारिमाण्डल्यभिन्न में कारणत्व माना जाता है। पारिमाण्डल्य से अणुपरिमाण का ग्रहण होता है। यदि अणुपरिमाण को कारण माना जाय तो अणुपरिमाण जनित द्व्यणुक एवं त्रसरेणु का प्रत्यक्ष नहीं होगा क्योंकि अणुपरिमाण अतीन्द्रिय एवं सूक्ष्मादियुक्त है अतः इससे उत्पन्न त्रसरेणु आदि में उक्त गुण की प्रधानता हो जायगी जिससे कि वह अतीन्द्रियतर एवं अतीन्द्रियतम तथा सूक्ष्मतर-तमादि गुणों के कारण[2] अप्रत्यक्ष का विषय हो जायगा। अन्यथासिद्धरहित, नियतपूर्ववर्ति हेतु को कारण कहते हैं। कारण का धर्म कारणता है। यह कारण 'समवायि, असमवायि एवं निमित्त भेद से तीन प्रकार का है। समवायसम्बन्ध द्वारा सम्बन्धित अन्यथा

१—सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते।
द्रव्यादयः पञ्चभावा अनेके समवायिनः॥
सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादि र्निर्गुणक्रियः।
सामान्य परिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः।
पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्। मु. का. १३ से १५

२—अन्यथा सिद्धशून्यस्य नियतापूर्ववर्तिता।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम्। मु. का. १६

सिद्धशून्य नियत पूर्ववर्ति हेतु समवायिकारण[1] है। समवायिकारण सदृश जो अन्यहेतु उसे असमवायिकारण कहते हैं। नैयायिक असमवायि कारण के नाश से कार्यनाश मानते हैं अतः तुरीतन्तु संयोग को वस्त्र के प्रति असमवायिकारण नहीं मानते, इसी प्रकार अभिघात और स्पर्श के प्रति वेग और संयोग असमवायिकारण एवं ज्ञानादि इच्छा एवं प्रवृत्ति के प्रति असमवायि कारण भी नहीं स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त दोषों के निराकरणार्थ विशिष्ट २ स्थलों में तत्तद् संयोगभिन्नत्व का समावेशकर शुद्ध असमवायि का लक्षण करते हैं यह 'तत्तद् भिन्नत्व पद जैसे पट के असमवायिकारण के लक्षण में तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्व का निवेश करना पड़ता है। यह असमवायिकारणकार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति एवं कारणैकार्थप्रत्यासत्ति भेद से दो प्रकार का है। इनके उदाहरण क्रमशः कपाल द्वय संयोग (अर्थात् अवयवी के प्रति अवयवों का संयोग) असमवायिकारण है जैसे घट के रूप के प्रति कपाल द्वय संयोग (अर्थात् अवयवी के प्रति अवयवों का संयोग) असमवायि कारण है, एवं घटरूप के प्रति कपाल द्वय रूप। वस्तुतः कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति में समवाय सम्बन्ध से, तथा कारणैकार्थप्रत्यासत्ति में स्वसमवायि समवेतत्व सम्बन्ध से वृत्ति युक्त असमवायि कारण होता है। समवायि तथा असमवायि कारणों से भिन्न कारण निमित्त कारण कहलाता है।

अन्यथा सिद्ध—जैसा कि शब्द द्वारा अर्थ अभिव्यक्त होता है, इस प्रकार के हेतु को कारण नहीं मानाजाता जैसे कि घटनिर्माण में मृत्तिका लाने वाला गर्दभ आदि। यह अन्यथा सिद्ध पांच प्रकार से विभक्त किये जासकते हैं।

१—कार्य के प्रति कारण का धर्म अन्यथा सिद्ध[2] है जैसे घटके प्रति दण्ड-

१—समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्य समवायि हेतुत्वम्।
एवं न्यायन यज्ञैस्तृतीय मुक्तं निमित्त हेतुत्वम्।
यत्समवेतंकार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायि जनकं तत्।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात्। मु.का. १७, १८

२—येन सह पूर्वभावः कारण मादाय वा यस्य

त्व। यहां पर घट के प्रति दण्ड की कारणता है, दण्ड धर्म में नहीं है।

२—कार्य के प्रति जिसे स्वतन्त्रतया अन्वय व्यतिरेक न हो, कारण के ग्रहण होने के पश्चाद् हो, अन्यथासिद्ध[1] है जैसे दण्ड का स्वरूप।

३—जो दूसरे के प्रति पूर्ववृत्तिताज्ञान के पश्चाद् ही कार्य के प्रति पूर्व वृत्तिता स्थापित करे, वह भी अन्यथा सिद्ध है जैसे घट के प्रति आकाश।

४—जिस कार्यजनक के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होकर ही जिसमें जिस कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता का ज्ञान हो वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है जैसे घट के प्रति कुलाल का पिता।

५—जिसको कारण मानने में लाघवता न हो (अतिरिक्तनियतपूर्ववर्त्ति) अन्यथा सिद्ध है जैसे घट के प्रति गदहा इसी पञ्चमलक्षण में उपर्युक्त चारो लक्षण भी आजाते हैं।

समवायिकरण द्रव्य[2] में वृत्तिवाला है तथा असमवायिकारण गुण एवं कर्म में रहता है। अर्थात् असमवायिकारण[3] गुणकर्मातिरिक्त शेष द्रव्यों का वैधर्म्य है। पृथ्व्यादि पञ्चभूतों के पञ्चपरमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन नित्य द्रव्य है। नित्य द्रव्यों से भिन्न द्रव्यों को आश्रय[4] की आवश्यकता है अतः अनित्य द्रव्यों का साधर्म्य

१—अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्व भाव विज्ञानम्
जनकं प्रति पूर्ववृत्तिता मपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते
अतिरिक्तमथापियद्भवेन्नियतावश्यक पूर्वभाविनः।
एते पञ्चान्यथा सिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्
घटादौदण्डरूपादि द्वितीयमपिदर्शितम्
तृतीयन्तु भवेद् व्योम कुलालजनकोऽपरः
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेस्वावश्यकस्त्वसौ॥ मु.का. १९ से २२ तक

२—समवायि कारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।

३—गुणकर्ममात्रवृत्तिज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्।

४—अन्यत्रनित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते। मु. का. २३ एवं २४

आश्रितत्व है। पृथिव्यादि नवों द्रव्यों का साधर्म्य द्रव्यत्व एवं गुणवत्व है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन का साधर्म्य परत्व मूर्तत्व क्रियावत्व और वेगवत्व है। मूर्तत्व का अभिप्राय अपकृष्ट परिमाण (महत्परिमाण से भिन्न परिमाण) से है। काल, आकाश, आत्मा और दिशा का परममहत्परिमाण साधर्म्य है। सर्वगतत्व एवं सर्वमूर्ति संयोगित्व भी इनमें पाया जाता है। पृथ्वी जल तेज वायु एवं आकाश भूत कहलाते हैं अतः इन पांचों में भूतत्व रहता है। पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु में स्पर्शवत्व, द्रव्यारम्भकप्रवृत्ति एवं द्रव्यसमवायिकारणता भी मानी जाती है। आकाश और जीवात्मा में अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्व तथा क्षणिकविशेषगुणवत्व माना जाता है। आकाश का विशेषगुण शब्द है, यह जिस समय एक स्थान पर उत्पन्न होता है, उसी समय दूसरे स्थान पर अभाववाला है अतः आकाश में अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्व रहता है। ज्ञान भी आत्मामें अव्याप्यवृत्ति ही माना गया है। वस्तुतः तीसरे क्षण में नष्ट होने वाले का नाम क्षणिक है। योग्यविभुके विशेष गुण का नाश अपने उत्पन्न होने के पश्चाद् उत्पन्न होने वाले गुणों के द्वारा होने के कारण प्रथम शब्द का नाश द्वितीयशब्द से होता है, अतः आत्मा में जब ज्ञान सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न की शरीर सम्बन्ध से उत्पत्ति होती है उसी समय घटादिसम्बन्ध द्वारा ज्ञानादि का अभाव भी रहता है। अतः ज्ञानादि भी अव्याप्यवृत्तिसिद्ध होते हैं।

योग्यविभुविशेषगुण से शब्दादि एवं अयोग्य विभुविशेषगुण से धर्म अधर्म एवं संस्कार का ग्रहण होता है।

ज्ञानादिक दो ही क्षण स्थायी अतः क्षणिक विशेषगुणवत्व भी

क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता।
क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च
परापरत्व मूर्तत्व क्रियावेगाश्रया अमी।
कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्।
क्षित्यादि पञ्चभूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि।
द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यादथाकाशशरीरिणाम्।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेष गुण इष्यते।

आत्मा का साधर्म्य है। अपेक्षा बुद्धि तीन क्षण तक रहती है जैसे एक एक दो, यहां पर तृतीय क्षण में ज्ञान होता है अतः चतुःक्षणवृत्ति जन्यावृत्ति जातिगत विशेषगुण अर्थ करते हैं। कोई भी जन्यज्ञान चार क्षणस्थायी नहीं है अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं लगता।

पृथ्वी जल एवं तेज में रूपवत्व, द्रवत्ववत्व, एवं प्रत्यक्षविषयत्व साधर्म्य माना गया है। यहां पर यह शंका है कि चक्षुरादि में, भर्जन कपालस्थित अग्नि में और ऊष्मा में रूप है इसमें क्या प्रमाण है। इस का उत्तर यह है कि तेजस्त्व हेतु से इन सब में भी रूप की सिद्धि हो जाती है। वायु द्वारा आनीत पृथ्वी जल एवं तेज में भी पृथिवीत्व, जलत्व एवं तेजस्त्व हेतुओं द्वारा रूप की सिद्धि होती है। जल में द्रवत्व सांसर्गिक एवं तेज में नैमित्तिक द्रवत्व है। पृथ्वी एवं जल में गुरुत्व तथा रसत्व सांसगिक है।

आत्मा, पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश में विशेष गुण रहते हैं। पदार्थ एवं द्रव्यों के जो साधर्म्य वर्णित किये गये हैं तदतिरिक्त पदार्थों का वैधर्म्य है। वायु में स्पर्श संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग,

रूपद्रवत्व प्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः।
गुरुणी द्वे रसवती तयो नैंमित्तिको द्रवः।
आत्मनो भूतवर्गाश्च विशेष गुणयोगिनः।
यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्यतत्।
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः।
स्पर्शादय ऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वञ्च द्रवत्वकम्
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश
स्नेह हीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश
बुद्धया दष्टकं संख्यादि पञ्चकं भावना तथा
धर्माधर्मौ गुणा ह्येते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश
संख्यादिपञ्चकं काल दिशोः शब्दश्च ते च खे
संख्यादयः पञ्चबुद्धि रिच्छायत्नोऽपिचेश्वरे
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्चमानसे। मु. का. २६-३४

विभाग, परत्व तथा वेग नवगुण माने गये हैं। तेज में उपर्युक्त नवगुण के साथ २ रूप एवं नैमित्तिक द्रवत्व भी पाया जाता है। तेजके एकादश गुणों के साथ गुरुत्व, रस एवं स्नेह १४ गुण जल में रहते हैं। स्नेहातिरिक्त पृथ्वी में जलके समस्त गुण रहते हैं। स्नेह के स्थान पर गन्ध है अत: पृथ्वी में भी १४ गुण पाये जाते हैं। बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न संख्या परिमाण पृथकत्व संयोगविभाग भावना धर्म और अधर्म १४ गुण जीवात्मा में आश्रित हैं। आकाश में संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग और शब्द गुण माने गये हैं। काल एवं दिशा में संख्या परिमाण पृथकत्व संयोग एवं विभाग केवल पाँच गुण हैं। मन में संख्या परिमाण पृथकत्व संयोग विभाग पर अपर एवं वेग आठ गुण पाये जाते हैं। ईश्वरात्मा में भी संख्या परिमाण पृथकत्व संयोग विभाग बुद्धि इच्छा एवं यत्न नामक गुणों की उपस्थिति मानी गयी है।

"ग्रन्थकर्तु: परिचय:"

सिंहासनस्थाष्टभुजी सुवर्णा सर्वौघविध्वंसनदत्तचित्ता।
श्री चण्डका मे कुलदेवतास्ति तस्यैनमोवंशसमृद्धिदात्र्यै ॥
विश्वेश्वरी पूज्यमदीयमाता सारस्वतो दाउदयालु तात:।
भ्रातास्ति विश्वम्भरनाथशर्मा लक्ष्म्यायुतो यस्य सुवामभाग: ॥
दुर्गास्ति पितृव्यवधूर्मदीया काशीस्थिता सा मम वन्दनीया।
स्वसा मदीया विदुषी प्रभा सा यां बैजनाथ: समलंकरोति ॥
ममाभिध:त्र्यम्बकनाथ शर्मा लीलाख्यशक्ति: सुविभाति वामे।
सूनू च मे च रमेशनाथो महेशनाथो हृदये चकास्त: ॥
त्रिधारिना राष्ट्रपते: सुवद्य: गुरुर्मदीयो जगतीप्रसिद्ध:।
लोकेऽद्वितीय: विदुषां गुरु: स श्री सत्यनारायण नामधेय: ॥
गुरुर्द्वितीयोऽपि वरोवरेण्य: काशीस्थितो मे हृदयेऽधिवासी।
प्रख्यात राजेश्वरदत्त शास्त्री यस्यानुकम्पा प्रददाति शक्तिम्।
श्रीदत्तात्रेय-अनन्त: कुलकर्णीति विख्यात:।
स गुरु र्भाग्यविधेय आयुर्वेदस्य सर्गस्य ॥

✪ इतिशम् ✪